आलोचना

जनवरी १९५३

एक अंक ३)

▲सम्पादकीय

▲निबन्ध

सम्पादकीय

राष्ट्रीय साहित्य के निर्माण की समस्या

'साहित्य के इतिहास की समस्या'[1] का सूत्र जहाँ छोड़ा था वहाँ से फिर पकड़ें। अन्तिम वाक्य था: "हमारे राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय जीवन का संघर्ष जितना ही तीव्र होता जाता है, 'सांस्कृतिक विरासत' के सही मूल्यांकन का प्रश्न भी उतना ही महत्त्वपूर्ण होता जाता है और इस समस्या को हल करने के लिए साहित्य के वैज्ञानिक इतिहास की अनिवार्यता भी बढ़ती जाती है।" इन दोनों अंकों[2] में हिन्दी के लगभग चालीस कृती आलोचकों ने हिन्दी-साहित्य के इतिहास, साहित्य की मुख्य-मुख्य युग-धाराओं और प्रवृत्तियों, हिन्दी साहित्य पर पड़े बाह्य और आन्तरिक प्रभावों, भाषा-सम्बन्धी प्रश्नों और हिन्दी साहित्य की पाँच सर्वोत्कृष्ट प्राचीन तथा आधुनिक कृतियों आदि का अपने ढंग से पुनर्परीक्षण और मूल्यांकन किया है। इससे हिन्दी साहित्य के वैज्ञानिक इतिहास की कोई सुनिश्चित रूपरेखा बन गई है, यह तो हम दावे के साथ नहीं कहेंगे, किन्तु वैज्ञानिक दृष्टि से इस दिशा में आगे भी सामूहिक और व्यक्तिगत प्रयत्न जारी रहने चाहिएँ, इसकी अनिवार्यता अवश्य सिद्ध हो गई है।

खोज और मूल्यांकन द्वारा अपने साहित्य की मूलतः मानववादी 'सांस्कृतिक विरासत' को सुरक्षित रखने और उसे जन-साधारण तक पहुँचाने का कार्य तो पहले से और भी अधिक तत्परता से जारी रहना चाहिए, क्योंकि विचारों को स्फूर्ति, कर्म की प्रेरणा, सामयिक समस्याओं की चेतना और आनन्द देने या सौन्दर्यबोध और मानव-बोध बढ़ाने के अतिरिक्त नये साहित्य के निर्माण की दृष्टि से उसका आत्यन्तिक उपयोग इसलिए भी है कि वस्तु और रूप दोनों के लिए वर्तमान अतीत पर ही निर्भर करता है। यह ठीक है कि केवल परम्परा ही वर्तमान जीवन को अपनी ओर से प्रभावित और नियन्त्रित करती जाती है, ऐसी एकतरफा बात नहीं होती। मनुष्य अपने वर्तमान क्रियाशील जीवन की चेतना और अनुभव द्वारा परम्परा को

---

१. देखिए, 'इतिहास विशेषांक' का सम्पादकीय—साहित्य के इतिहास की समस्या

२. इतिहास विशेषांक और शोधांक

निरन्तर बदलता भी जाता है। हर युग के साहित्यकार अपने पूर्ववर्ती युग के देशी-विदेशी साहित्यकारों की कृतियों से सीखते हैं, उनसे वस्तु और रूप भी उधार लेते हैं, पर साथ ही वे परम्परा से लिये माध्यमों द्वारा अपने युग-जीवन की वैविध्यपूर्ण वास्तविकता और इतिहास-निर्धारित बुनियादी समस्याओं का चित्रण करके इस परम्परा की सुरक्षा ही नहीं करते, बल्कि उसका युगानुरूप संस्कार भी करते हैं, और अपनी मौलिक कृतियों से मनुष्य की सांस्कृतिक विरासत को उत्तरोत्तर समृद्ध बनाते जाते हैं। तात्पर्य यह कि रचना के क्षेत्र में आवृत्ति या अनुकरण से परम्परा निर्जीव और अर्थहीन होती है, समृद्ध और विकसित नहीं होती। इसलिए इतिहास और परम्परा का अध्ययन-विवेचन मूल्यांकन तभी सार्थक है जब वह वास्तविक रूप से साहित्य की रचनाशील शक्तियों को अनुप्रेरित करे और अपने सामाजिक जीवन के यथार्थ को कलात्मक अभिव्यक्ति देने के मार्ग में उठने वाली वस्तु-रूप-शैली और टेक्नीक आदि से सम्बन्धित समस्याओं का उपयुक्त समाधान खोजने में उन्हें नई दृष्टि दे, ताकि वे मौलिक और श्रेष्ठ कृतियों की रचना कर सकें—ऐसी कृतियों की जो अपनी आन्तरिक शक्ति और सौन्दर्य से अपने राष्ट्रीय जीवन की इतिहास-निर्दिष्ट समस्याओं का यथार्थ-चित्रण करते हुए भी (या कहें कि इस कारण ही) विश्वजनीन (यूनिवर्सल) और सर्वकालिक महत्ता प्राप्त कर सकें। यहीं पर राष्ट्रीय कला और साहित्य के निर्माण की समस्या उठ खड़ी होती है। हिन्दी साहित्य के इतिहास और भावी विकास की मुख्य दिशा को समझने के लिए इस समस्या पर विचार कर लेना जरूरी है।

साहित्य के सम्बन्ध में 'राष्ट्रीय' शब्द का प्रयोग हिन्दी के इतिहासकारों ने भी किया है, किन्तु संकुचित अर्थ में ही। सन् २० से ४२ के बीच जो राष्ट्रीय आन्दोलन मुखर था उससे सम्बन्धित या उसको प्रतिबिम्बित करने वाले साहित्य को ही राष्ट्रीय कहा जाता है। ऐसा साहित्य चूँकि राजनीतिक आन्दोलनों की सामयिक उत्तेजना के समय ही लिखा जाता था और जब आन्दोलनों के मन्द पड़ते ही या समझौतावादी पथ पर अग्रसर होते ही इस साहित्य की उपयोगिता और अपील भी खत्म हो गई, इसलिए अच्छे लेखक 'राष्ट्रीय' शब्द से ही चौकन्ने हो जाते हैं। जो कवि आज भी 'राष्ट्रगीत' या राष्ट्रीय आन्दोलन को प्रतिबिम्बित करने वाली रचनाएँ लिखते हैं वे बेजान तुकबन्दियों या 'इन्दुमती' जैसे उपन्यास से अधिक कुछ निर्माण नहीं कर पाते। साहित्य और कला में 'राष्ट्रीय' शब्द का इतना संकुचित अर्थ ग्रहण करना सर्वथा गलत है। इसका तो यह मतलब हुआ कि राष्ट्रीय साहित्य कुछ विशेष प्रकार की राजनीतिक रचनाओं का ही नाम है; कि यह साहित्य केवल विद्रोह का साहित्य है और केवल गुलाम देशों में ही पैदा हो सकता है—जो देश स्वतन्त्र हैं वहाँ राष्ट्रीय साहित्य और कला सम्भव ही नहीं; कि आजादी के लिए संघर्ष करने वाले गुलाम देशों में भी राष्ट्रीय साहित्य की धारा मुख्य धारा नहीं है; कि इस प्रवृत्ति की स्फुट रचनाएँ तात्कालिक महत्त्व की ही हो सकती हैं; कि ऐसी रचनाओं के करने वाले ही राष्ट्रीय कवि या लेखक हैं, अन्य लेखक और कलाकार राष्ट्रीय नहीं हैं। राष्ट्रीय का यह संकुचित अर्थ लगाया जाता है, इसका स्पष्ट उदाहरण यह है कि मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, सुभद्राकुमारी चौहान, 'नवीन' या 'दिनकर' को तो राष्ट्रीय कवि कहा जाता है, किन्तु कबीर, तुलसी, सूर, प्रसाद, पन्त, निराला आदि भक्त और छायावादी कवियों को राष्ट्रीय कवि कहने की बात कल्पना में भी नहीं उठती। इस भ्रान्तिपूर्ण धारणा का कारण

ये अव्यवहार्य भावना के प्रतिनिधि दृष्टिकोण हैं, जो राष्ट्रीय आज़ादी के संघर्ष और राष्ट्रीय साहित्य को केवल राष्ट्रवाद और नस्लवाद के रूप में ही देखते हैं, और उसे अन्तर्राष्ट्रीय साहित्य का विरोधी समझते हैं।

हम इस भ्रान्ति का निराकरण ज़रूरी समझते हैं, क्योंकि स्वस्थ राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय साहित्य के विकास में ये दिग्भ्रान्त प्रवृत्तियाँ बाधक हैं। राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय साहित्य में कोई आन्तरिक विरोध नहीं है और न राष्ट्रीय साहित्य राष्ट्रवादी साहित्य का पर्याय ही है। 'राष्ट्रीय' का अर्थ बहुत व्यापक है।

इसीलिए 'साहित्य के इतिहास की समस्या' में हमने लिखा था : "सभी जानते हैं कि देश की अन्य प्रमुख भाषाओं के आधुनिक साहित्यों की ही तरह हिन्दी का आधुनिक साहित्य भी हमारे राष्ट्रीय जागरण के युग की पैदावार है। या कहें कि राष्ट्रीय जागरण ही आधुनिक युग में भारतीय सांस्कृतिक नव-निर्माण (रिनेसां) की अन्तर्प्रेरणा बना है।" आगे चलकर हमने यह भी स्पष्ट किया था कि इस सांस्कृतिक नवनिर्माण (रिनेसां) की प्रक्रिया को अभी पूरा होना शेष है। किन्तु 'भारतीय सांस्कृतिक पुनर्निर्माण' (रिनेसां) की प्रक्रिया क्या राष्ट्रीय जागरण के साथ ही शुरू हुई? हमारी उक्त स्थापना में निश्चय ही ऐसी संकीर्णता ध्वनित है, क्योंकि इतिहास की साक्षी कुछ और है। 'आधुनिक साहित्य' को तो जिसका आरम्भ भारतेन्दु से हुआ, राष्ट्रीय जागरण के युग की पैदावार कहा जा सकता है, लेकिन वास्तव में यह भारतीय रिनेसां का द्वितीय उत्थान है। प्रथम उत्थान तो सम्भवतः भक्त-कवियों—कबीर से शुरू होता है। अर्थात् हिन्दी-क्षेत्र को दृष्टि में रखकर हम कह सकते हैं कि भारतीय रिनेसां के प्रवर्तक कबीर हैं, भारतेन्दु नहीं। कहने का तात्पर्य यह कि समूचा हिन्दी साहित्य (और सिर्फ़ यह है कि लोग राष्ट्रीय (नेशनल) और राष्ट्रवादी (नेशनलिस्ट) में भेद नहीं करते।

इसीलिए राष्ट्रीय शब्द का उच्चारण होते ही लोग सतर्क हो जाते हैं। साहित्यकार या संभ्रान्त पाठक इसे निन्दा की दृष्टि से देखते हैं। दरअसल राष्ट्रीय साहित्य का विरोध तीन दिशाओं से होता है। एक तो उन रीति-ग्रन्थों की परम्परा के पुजारी अध्यापकों की ओर से जो श्रेष्ठ साहित्य की रचना के लिए शास्त्रीय नियमों का पालन अनिवार्य समझते हैं। दूसरी ओर साहित्य में राष्ट्रीय गुणों की अवहेलना वे लोग करते हैं जो शैली और रूप में कला के विश्वजनीन मापदण्डों का प्रयोग करना प्रगति का लक्षण समझते हैं। 'शेखर,' 'नदी के द्वीप' और हिन्दी की नई प्रयोगशील कविता में शैली और अभिव्यक्ति की कृत्रिमता इसी कारण इतनी मुखर है क्योंकि उनमें राष्ट्रीय गुणों को तिरस्कृत किया गया है। साहित्य-कला में राष्ट्रीय आन्दोलन का तीसरी दिशा से विरोध करने वाले वे प्रगतिवादी हैं जो राष्ट्रीय शब्द को बुर्ज्वा राष्ट्रवाद का पर्याय समझकर हेय मानते हैं। वे हर कविता में वियतनाम, कोरिया, मलाया, चीन, रूस आदि का नाम गिना-गिनाकर संकेतात्मक भाषा में बात करते हैं, शैली और रूप-विधान में मायाकोवस्की और जुलियस फ्यूशिक की नकल करते हैं। उनकी कविताएँ भी अधिकतर बेजान तुकबन्दियाँ होती हैं या केवल अलंकारिक गर्वोक्तियाँ। कुछ दिन पहले राष्ट्रीय शब्द से उनकी चिढ़ इस सीमा तक बढ़ी थी कि देश-प्रेम की भावना को भी वे सन्देह की दृष्टि से देखने लगे थे। परम्परा के प्रति भी उनका आदरभाव कृत्रिम है, क्योंकि परम्परा में वे केवल उन्हीं लेखकों को शामिल करते हैं जो अब नहीं रहे; जो हैं, वे परम्परा से बाहर, वर्ग-स्वार्थों से आक्रान्त प्रतिक्रियावादी साहित्यकार ही उन्हें नज़र आते हैं।

इसी प्रकार देश की अन्य जातीय भाषाओं का साहित्य भी) भारतीय रिनेसां के प्रथम और द्वितीय उत्थानों की पैदावार है—यह नव-जागृति और सांस्कृतिक नव-निर्माण का राष्ट्रीय (नेशनल) साहित्य है। इन दोनों उत्थानों के बीच ह्रास और अधोगति का काल भी आया, किन्तु इस कारण ही प्रथम उत्थान को भारतीय संस्कृति के इतिहास में उसके वास्तविक गौरव से वंचित करके 'मध्यकालीन' कह देना संगत नहीं दीखता।

यूरोप में राष्ट्रीयता का विचार मध्ययुग के बाद सांस्कृतिक नव जागरण के आरम्भ में पैदा हुआ। तब तक जातीय आधार पर राष्ट्रों का निर्माण न हुआ था, लेकिन व्यापारी वर्ग की शक्ति बढ़ने लगी थी और सामन्तवाद का ह्रास हो चला था। इन नये परिवर्तनों ने सांस्कृतिक जागरण के लिए व्यापक परिस्थितियाँ तैयार कीं और यूरोप के विभिन्न देशों में राष्ट्रीय साहित्य और कला का निर्माण शुरू हुआ। राष्ट्रीय कला या साहित्य से तात्पर्य उस कला और साहित्य से है जो जन-साधारण की भाषा, लोक-वार्ता, लोक-साहित्य, पौराणिक आख्यानों और जन-श्रुतियों से गुम्फित उस जातीय मुहावरे का प्रयोग करता है, जो एक राष्ट्र के लोगों में समान रूप से प्रचलित होता है। यह मुहावरा सामान्य विश्वासों और सामान्य मनोभूमि को प्रतिबिम्बित करता है, जिससे सहज ही प्रेषणीय होता है। इसीलिए जब तक जातीय या राष्ट्रीय एकता की भावना का उदय नहीं हुआ तब तक राष्ट्रीय कला और साहित्य का विकास भी नहीं हुआ। मध्य-काल में उनके विकास की सम्भावनाओं के बीज सर्व-साधारण के बीच अपने स्थानीय और अनगढ़ ग्राम्य रूपों में लोक-साहित्य और लोक-कला के माध्यम से पनपते रहे।

हमारे देश में भी राष्ट्रीय एकता की भावना मध्य-युग के अन्त में और सांस्कृतिक पुनः-निर्माण के आरम्भ में पैदा हुई। मध्ययुग में वैदिक और अवैदिक धर्म-साधनाओं का विरोध बढ़ता रहा और अनेक तान्त्रिक प्रभाव भारतीय साधना को नया रूप और संस्कार देते रहे। उन दिनों धर्म ही लोक-चेतना की अभिव्यक्ति का माध्यम था। सामाजिक जीवन का वैषम्य, उच्च वर्गों और नीच जातियों का आन्तरिक द्वन्द्व—अर्थात् उस युग का वर्ग-संघर्ष, मनुष्य की चेतना में अनेक परस्पर-विरोधी धर्म-साध-नाओं के माध्यम से लड़ा जा रहा था। इस संघर्ष में जन-साधारण की लोक-चेतना के प्रतीक तान्त्रिक प्रभाव ही प्रबल सिद्ध हुए।

इस बीच उत्तर भारत में विदेशी आक्रमण लगातार होने लगे थे जिससे समाज के नैतिक और धार्मिक जीवन में उच्च जातियों का नियन्त्रण ढीला पड़ने लगा था और जब कई शताब्दियों की राजनीतिक अव्यवस्था और उलट-फेर के बाद सुलतानों का राज्य स्थापित हुआ और दिल्ली में केन्द्रीय शासन, केन्द्रीय कानून, केन्द्रीय कर-व्यवस्था और केन्द्रीय सेना की सुरक्षा में व्यापार चलने लगा तो इन सब के परिणामस्वरूप देश की विभिन्न जातियों (नैश्नेलिटीज) में अपनी जातीय चेतना उद्बुद्ध हुई। इसके फलस्वरूप राष्ट्रीय एकता की भावना और राष्ट्रीय साहित्य और कला का जन्म हुआ। इसी काल में कांगड़ा और राजपूताना की चित्रकलाएँ और अन्य-अन्य जातियों के नृत्य और संगीत के विभिन्न राष्ट्रीय रूप, लोक-वार्ता, लोक-भाषा और लोक-कला का आधार लेकर विकसित हुए। दस्तकारियों ने भी लोक-जीवन की जातीय विशेषताओं को ग्रहण करके एक अभिनव सौष्ठव प्राप्त किया। इसलिए यह सांस्कृतिक जागरण चतुर्मुखी था। इसका आधार जातीय था। इसने देश की अलग-अलग जातियों में अपनी जातीय एकता की भावना जाग्रत की और उनमें जातीय प्रगति

और आजादी की आकांक्षा उत्पन्न की।

इन तथ्यों की ओर हम केवल इसलिए संकेत कर रहे हैं कि साहित्य और कला में राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रति जो संकुचित धारणा इस बीच बन गई है, वह निर्मूल हो जाय, और इस सामान्य तथ्य को हमारे इतिहास लेखक और साहित्यकार पहचानने लगें कि हर देश की कला और साहित्य में राष्ट्रीय आन्दोलन का सूत्रपात और उसका विकास तभी होता है जब जनसाधारण अपनी भाषा, अपना महावरा और चारित्रिक गुणों के साथ उस में प्रवेश करते हैं, और उनके जातीय इतिहास की स्मृतियाँ, उनके लोक-जीवन की सामान्य मनोभूमि और प्रकृति-प्रेम उनकी अपनी भाषा के माध्यम से व्यक्त होने लगता है। इस दृष्टि से इतिहास का अध्ययन करने पर ही हम इस तथ्य की स्थापना कर सकते हैं कि हिन्दी में राष्ट्रीय-साहित्य का निर्माण कबीर से प्रारम्भ होता है, वही हमारे सांस्कृतिक पुनर्जागरण के प्रवर्तक हैं।

मध्य-युग से पहले या मध्य युग में भी, संस्कृत भाषा ही साहित्य-रचना का माध्यम थी, परन्तु संत कवियों ने इस शास्त्रीय परम्परा को त्यागकर जन-भाषाओं का आश्रय लिया और लोक-कला और लोक-साहित्य की परम्पराओं से प्रेरित ऐसे रूप-विधानों की सृष्टि की जिसमें जनता के जीवन और उसकी समस्याओं का पूरा चित्र उद्घाटित हो जाय। कबीर और सूर के पदों, और जायसी और तुलसी के महाकाव्यों में उस समय के जन-जीवन का पूरा चित्र मिलता है। चूंकि उनकी कला का आधार लोक-साहित्य और लोक वार्ता की परम्पराएँ हैं, इसीलिए वे न केवल सामान्य पाठकों के लिए प्रेषणीय हो सकीं और जातीय-भावना जगाने में समर्थ हुईं बल्कि इस कारण ही वे सार्वदेशिक महत्त्व भी पा सकीं।

रीतिकाल के कवियों ने यद्यपि लोकवार्ता और लोक-काव्य के रूपों का सर्वथा त्याग तो नहीं किया लेकिन उन्हें शास्त्रीय-विधानों में बांधकर रीति-बद्ध करने की कोशिश की जिसका परिणाम यह हुआ कि यद्यपि भाषा का मार्जन होता रहा लेकिन राष्ट्रीय-काव्य के वे 'एपिक' रूप उपेक्षित हो गए जिनका निर्माण करके भक्त कवियों ने अपने युग के समग्र जीवन को चित्रित कर उसके ऐतिहासिक सत्य का उद्घाटन किया था। रीतिकालीन कवि राष्ट्रीय साहित्य की व्यापक आधारभूमि से हटकर जीवन के एकांगी चित्रों की आवृत्ति में ही रम रहे।

भारतेन्दु के समय में एक विदेशी शासन के स्थापित होने के विरुद्ध राष्ट्रीय भावना की जागृति से कला और साहित्य में फिर एक उन्मेष आया और राष्ट्रीय साहित्य का दूसरा उत्थान शुरू हुआ।

इस उत्थान में देश के विभिन्न भाषा-क्षेत्रों में राष्ट्रीय साहित्यों और कलाओं का जैसा अभूतपूर्व और सर्वतोमुखी विकास हुआ, उसके इतिहास से तो सभी पाठक परिचित हैं। यह विकास कुछ वैसा ही महान् या जैसा पुश्किन के समय से लेकर तॉलस्तॉय और गोर्की तक रूस में हुआ था और जिसने वहाँ पर राष्ट्रीय साहित्य और कला के एक नये उत्थान की भूमिका भी तैयार की। हमारे यहाँ हिन्दी, उर्दू, बंगाली, गुजराती, मराठी, तामिल, तेलुगु आदि देश की अन्यान्य भाषाओं में इस बीच अनेक ऐसे प्रतिभासम्पन्न कवि, कथाकार और नाटककार हुए हैं जिनकी कृतियाँ देश के विभिन्न भाषा-भाषी पाठकों में ही लोकप्रिय नहीं हैं, बल्कि उनमें से जिनका अनुवाद यूरोपीय भाषाओं में हो सका है, वे अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व भी पा गई हैं। इसी तरह इस बीच विभिन्न प्रदेशों के जातीय संगीत, नृत्य, चित्र-कला तथा अन्य कलाएँ, जिनका विकास अव-

दब गया था, राष्ट्रीय-जागरण का अनुकूल वातावरण पाकर पुनः विकसित हुई, और प्रत्येक क्षेत्र में महान् प्रतिभाओं का विकास हुआ। भारतेन्दु, बंकिम, रवीन्द्र, इकबाल, जोश, प्रेमचन्द, प्रसाद, पन्त, निराला, जैनेन्द्र, अवनीन्द्रनाथ, नन्दलाल बोस, जैमिनी राय, उदयशंकर, विष्णु दिगम्बर, फ़ैयाज़ खाँ और उस्ताद इनायतअली खाँ आदि इस युग के साहित्यकार और कलाकार इसलिए महान् और अमर नहीं हैं कि उनकी कृतियों में देश-काल की परिस्थितियों और राष्ट्रीय जीवन से असंलग्न कोई ऐसी कल्पित विश्वजनीनता है या मनुष्य-मात्र के ऐसे अमूर्त गुणों का आकलन करने का प्रयत्न है, जो शाश्वत और कालातीत हैं। ऐसी अमूर्तता उनकी कृतियों में नहीं है। कवि गुरु रवीन्द्र की उक्ति के अनुसार 'ससीम में ही असीम' को, राष्ट्रीय में ही विश्वजनीन को प्रतिबिम्बित करने की साधना उन्होंने की है। सौभाग्य से राष्ट्रीय आन्दोलन की एकता ने इस युग में प्रत्येक प्रादेशिक भाषा-क्षेत्र में बसने वाली जनता के जातीय सांस्कृतिक जीवन में अपने अतीत इतिहास के गौरव से परिचित होने की जिज्ञासा, अपनी वर्तमान दुरवस्था के कारणों को समझने की उत्कण्ठा, आज़ादी, प्रगति और एकता की बलवती आकांक्षा, और विश्व की अन्य जातियों की संस्कृतियों में जो-कुछ सामान्य है और जो विशिष्ट है, अर्थात् मानव-प्राणियों की मूल समानता और नाना रूपात्मक विभिन्नता को स्वीकार करने की उदार विश्व-बन्धुत्व की भावना जाग गई थी, जिससे प्रबुद्ध पाठकों और दर्शकों की माँग अधिकतर ऐसे साहित्य और कलाकृतियों के लिए ही होने लगी जो इन विषयों की गम्भीरतम चेतना जगा सकें, उन्हें नई रोशनी, नई अन्तर्दृष्टि और नई प्रेरणा दे सकें और राष्ट्रीय एकता की भावना को मज़बूत कर सकें। देश के सांस्कृतिक जीवन का वातावरण कला-निर्माण के लिए अनुकूल पाकर हमारे साहित्यकार और कलाकार एक नये उत्साह से सभी क्षेत्रों में कला के राष्ट्रीय आधार खोजने की ओर उन्मुख हुए। राष्ट्रीय विरासत, राष्ट्रीय मुहावरे और राष्ट्रीय रूप-विधानों को अपनाने की कोशिश हुई। लोक-वार्ता, इतिहास और पुराण-कथाओं के माध्यम से राष्ट्रीय-जीवन की समस्याओं का उद्घाटन किया गया। ये समस्याएँ नैतिक, सामाजिक और कभी-कभी धार्मिक और राजनीतिक स्तरों पर भी उठाई गईं।

किन्तु रवीन्द्र, शरत्, इकबाल और प्रेमचन्द की पीढ़ी समाप्त होते ही हमारे देश की विभिन्न भाषाओं और कलाओं में जैसे यह द्वितीय उत्थान भी समाप्त हो गया। सम्भवतः इसका मुख्य कारण यह था कि एक ओर तो राष्ट्रीय आन्दोलन अपनी आन्तरिक असंगतियों के कारण विच्छिन्न होकर विपरीत दिशाओं में चल निकला, और दूसरी ओर इस वैषम्य के परिणामस्वरूप देश के सांस्कृतिक जीवन की एकता भी छिन्न-भिन्न हो गई। प्रगतिशीलों ने इस ह्रास को रोकने की कोशिश की, लेकिन वे स्वयं समस्या के ऊपरी रूप से ही परिचित थे, उसके वास्तविक रूप को पहचानने की अन्तर्दृष्टि उनमें उस समय न थी। इस व्यापक विशृङ्खलता के दौर में हमारे अनेक प्रतिभाशाली साहित्यकार और कलाकार भी राष्ट्रीय कला के पथ से हटकर पाश्चात्य देशों में नित्य नये-नये नामों से प्रचार पाने वाली साहित्य और कला की ह्रासोन्मुखी तथा मात्र रूपवादी प्रवृत्तियों को ही विश्वजनीनता और आधुनिकता की कसौटी मानकर उनकी ओर आकृष्ट हुए और नाम, जगह और वेश बदलकर उनकी अनुकृतियाँ तैयार करने लगे। अपनी कृतियों के लिए विश्वजनीन और सर्वकालिक महत्ता पाने की कोशिश में पाश्चात्य की अधुनातन प्रवृत्तियों का अनुकरण

ही उनका साधन और साध्य बन गया। परन्तु यह प्रश्न निष्फल ही होता, इस तथ्य को हृदयंगम करने के लिए तात्त्विक विवेचन की अपेक्षा हो सकती है, लेकिन हम यहाँ पर एक उदाहरण देकर ही सन्तोष करेंगे। गत वर्ष अन्तर्राष्ट्रीय फिल्म प्रदर्शनी के अवसर पर 'बाइ-सिकिल थीफ़' (चोर) के प्रसिद्ध इतालवी दिग्दर्शक ने भारतीय फिल्मों के बारे में अपना मत प्रकट करते हुए कहा था कि भारतीय फिल्मों में हालीवुड की नकल होती है। इसी कारण टेकनिकल खूबियों के होते हुए भी उनका अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व नहीं हो सकता, क्योंकि उनमें भारत के विशिष्ट राष्ट्रीय जीवन की झाँकी नहीं मिलती। हालीवुड की नकल करके भारतीय फिल्म-कला का अपना वैशिष्ट्य और व्यक्तित्व नहीं रहता, कि अन्य देशों के दर्शक भारतीय जीवन का अन्तरंग परिचय पाने के लिए उन्हें देखने को उत्सुक रहा करें।

राष्ट्रीय तत्त्व का तिरस्कार करके एक थोथी विश्वजनीनता की ओर दौड़ने की प्रवृत्ति फिल्म-व्यवसाय की ही विशेषता नहीं है। साहित्य-कला के अन्यान्य क्षेत्रों में भी व्यवसायी-वर्ग की ओर से ऐसी अनुकरण-वृत्ति को प्रोत्साहन दिया जा रहा है, अर्थात् राष्ट्रीय कला और साहित्य की विचार-वस्तु और रूप-विन्यास, इन दोनों का क्षेत्र संकीर्ण और कृत्रिम बनाया जा रहा है। फलतः इस प्रतिकूल वातावरण में भारतीय सांस्कृतिक पुनर्जागरण के तृतीय उत्थान का स्वाभाविक विकास अवरुद्ध हो रहा है।

हिन्दी-साहित्य के प्रसंग में रखकर विचारें। हमारे यहाँ रचनात्मक प्रयोगों और प्रयत्नों की कमी नहीं; और प्रतिभाएँ भी विरल नहीं। हर ओर नवीनता-ही नवीनता के दर्शन होते हैं कविता का मुहावरा और शब्द-विन्यास, उपमाओं और प्रतीकों की योजना नवीन है; कहानियों के विषय और पात्र, घटनाएँ और समस्याएँ नवीन हैं; कथकों की शैली और रचना-तन्त्र नवीन हैं; उपन्यासों की तो बात ही निराली है। उनको खोलकर पढ़ने की ज़रूरत भी नहीं। उनका बहिरंग और कलेवर तक नवीन है। जिन पाठकों ने शरत्, रवीन्द्र, प्रेमचन्द्र और जैनेन्द्र की दुबली-पतली कृतियाँ पढ़कर ही सिर धुना था, वे गत दस-पन्द्रह वर्षों में प्रकाशित हजार पृष्ठों की ड्योढ़ी पार करने में कटिबद्ध दीखते बृहदाकार हिन्दी-उपन्यासों पर नजर पड़ते ही कुछ खो-से जाते हैं। आशा बँधती है कि भारी-भरकम डील-डौल से तॉलस्तॉय, ह्यूगो, डिकेन्स, बाल्ज़क और रोम्याँरोलाँ की महा-कृतियों को चुनौती देने वाले इन उपन्यासों में शायद इस युग के भारतीय जीवन का 'एपिक' चित्रण होगा। किन्तु पढ़कर जब ज्ञात होता है कि लेखक की विचार-पूँजी की कमी के अनुपात में ही उपन्यासों का विस्तार भी अधिक हुआ है और लेखक किसी के प्रति अपने निजी पूर्व-ग्रह, घृणा या प्रेम को व्यक्त करने के लिए ही किसी पाश्चात्य कृति की शैली और टेकनीक की नकल करके कठपुतली पात्रों की सृष्टि कर रहा है, या उसने जो-कुछ देखा-सुना है उसे ब्यौरेवार बयान करके अपना आत्म-प्रदर्शन करने पर तुला है, तो इस सारी नवीनता के प्रति वितृष्णा ही नहीं होती, प्रतिभा के इस विराट् अपव्यय पर क्षोभ से हृदय छिदने भी लगता है। यही सामान्य स्थिति है। अपवाद भी हैं, पर अपवाद तो अपवाद ही हुए। साहित्य की विचार-वस्तु की दृष्टि से इसी कारण हमने 'यथार्थ और साहित्य'[1] का प्रश्न उठाया था, क्योंकि इन दिनों सामान्य प्रवृत्ति जीवन के यथार्थ से हटकर औसत जीवन की औसत घटनाओं के प्रकृत चित्र खींचने की ओर है। अमवश केन्द्रीय विचार-वस्तु से रहित इस

1. देखिए, 'आलोचना' अंक ३ का सम्पादकीय 'यथार्थ और साहित्य'

यथातथ्य, असम्बद्ध चित्रण को ही हमारे साहित्यकार यथार्थवाद या जीवन का यथार्थ चित्रण समझते हैं। आज हमने राष्ट्रीय साहित्य के निर्माण का प्रश्न भी इसी कारण उठाया है क्योंकि एक भ्रामक विश्वजनीनता के मोह में वे साहित्य को अधिक सीमित और आत्म-केन्द्रित बनाते जा रहे हैं, और विश्व-साहित्य के इतिहास के इस व्यापक सत्य को भूल रहे हैं कि मानव-जीवन के विश्वजनीन सत्य उसके विशिष्ट ऐतिहासिक और राष्ट्रीय जीवन के माध्यम से ही उद्घाटित हो सकते हैं; कि कला में राष्ट्रीय तत्त्व जितना ही गहरा होगा, उसे विश्वजनीन स्वीकृति मिलने में उतनी ही आसानी होगी।

इसलिए राष्ट्रीय साहित्य और कला के निर्माण की समस्या के दो पहलू हैं: (१) ऐसी परिस्थितियों को पैदा करना जिनमें राष्ट्रीय कला और साहित्य अकुंठित रूप से विकास कर सकें, अर्थात् समाज का सांस्कृतिक जीवन ऐसा बनाएँ जो कला-सर्जन में प्रेरक बने बाधक नहीं। (२) विश्व की कला, साहित्य और विज्ञान की विरासत से जो कुछ सीखा जा सकता है, सीखकर ऐसी कृतियों का निर्माण करने का प्रयत्न करना जिनमें इस युग ने हमारी जनता के सामने जो नैतिक और सामाजिक प्रश्न उठा दिए हैं उनको कलात्मक अभिव्यक्ति देने तथा अपनी जनता के चारित्रिक गुणों का उद्घाटन करने की समस्या का समाधान पा सकें। ऐसी कृतियाँ ही अपनी विचारोत्तेजक शक्ति से जनता की सांस्कृतिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकती हैं और साथ ही अन्य देशों की जनता के आगे हमारे राष्ट्रीय जीवन का सही-सही प्रतिनिधित्व करके एक-दूसरे को अधिक निकट लाने में योग दे सकेंगी। ऐसी कृतियाँ ही वास्तव में अन्तर्राष्ट्रीय या विश्वजनीन महत्ता प्राप्त करती हैं।

राष्ट्रीय साहित्य और कला के तृतीय उत्थान के लिए यही व्यावहारिक समस्याएँ हमारे सामने हैं। आज की प्रतिकूल परिस्थितियों में राष्ट्रीय सांस्कृतिक जीवन एक व्यंग्यपूर्ण हक़ीक़त बन गया है, जिसमें उच्चकोटि का साहित्य और कला का फलना-फूलना सम्भव नहीं दीखता। इसलिए तृतीय उत्थान के लेखक और कलाकार को पाश्चात्य देशों की ह्रासोन्मुखी सामयिक प्रवृत्तियों का आकर्षण छोड़ यथार्थ जन-जीवन के सत्यों को उद्घाटित करने वाली श्रेष्ठ कला-कृतियों का निर्माण भी करना है और अनुकूल सांस्कृतिक जीवन के लिए संघर्ष भी।

—शिवदानसिंह चौहान

निबन्ध

हंसकुमार तिवारी

हिन्दी-गीति-काव्य का विकास

भारतीय साहित्य में गीतों की परम्परा बड़ी पुरानी है। जो गीत-साधना के ऐतिहासिक पहलू से दिलचस्पी रखते हैं, उन्हें इसकी कड़ी वैदिक युग से ही जोड़नी पड़ेगी। ऋग्वेद में उषा की जो स्तुतियाँ आई हैं, वे गीत हैं। सामवेद गीत ही है। सुभाषित ग्रन्थों में पाणिनि के नाम से कुछेक ऐसे भी पद्य मिलते हैं जो कि गीत हैं : सिद्धों की रचनाएँ और गोरखनाथ के पद भी गीत हैं। और इस प्रकार गीतों की यह गतिशील धारा विभिन्न युगों एवं जीवन के अंचल से बहती हुई नये रूप, नई गति, चेतना की नई दीप्ति तथा जीवन के ऐश्वर्य से दिन दिन पुष्ट और प्राजल होती आई है। आज जिसे हम गीति-कविता कहते हैं, है तो वह उसी परम्परा की देन, उसी कुल का अगी, किन्तु अवधि के इस व्यवधान से वह रूप, प्रकृति और प्राण धर्म के लिहाज से स्वतन्त्र कोटि में आ खड़ा हुआ है।

पिछले काव्य-विचार में गीति-कविता कोई अलग काव्य-भेद नहीं है। यह शायद इसलिए कि उन दिनों काव्य-मात्र गेय हुआ करते थे और गीत-मात्र काव्ययुक्त वैदिक ऋचाओं की रचना गाने के ही निमित्त हुई थी। यज्ञोत्सवों में उन मन्त्रों को उदात्त, अनुदात्त और स्वरित स्वर में गाया जाता था। यहाँ एक शंका उठ सकती है। मन्त्र गेय तो ठीक होते थे, लेकिन उनका काव्यत्व क्या था ? काव्य और मन्त्र निश्चय ही एक नहीं हैं, पर काव्य मन्त्र की कोटि तक उन्नत हो सकते हैं, कवि ऋषि होता है यह हम आज भी मानते हैं। परम्परागत संस्कार से हम काव्य-चर्चा में कभी वेद, उपनिषद् या गीता का नाम नहीं लेते, जब लेते हैं वाल्मीकि, व्यास और कालिदास का ही नाम लेते हैं और चूँकि इनकी रचना श्रेष्ठता के उस पर्याय तक पहुँची है, उस पराकाष्ठा तक उठ गई है कि हम व्यास, वाल्मीकि को ऋषि भी कहते हैं। टाल्सटाय और रवींद्र को भी ऋषि कहते हैं। काव्य और मन्त्र दोनों ही वाक् के रूप हैं—एक में मानिव महिमा, दूसरे में माहात्म्य। जब मूर्ति के प्राण से शृङ्गार का वजनी होता है, तब काव्य होता है, जब वाक्य से उसका आभयी भारी होता है तो वह हो उठता है मन्त्र। जैसे,

सत्यमेव जयते नानृतम्
सत्येन पन्था विततो देवयानः।

इतना सरस, संक्षिप्त और निरामरण काव्य क्या होगा, अथवा कितना तेजोमय, सामर्थ्यशाली और

प्रांजल ! यहाँ वाक्य का विग्रह अनलंकृत और अनावृत ही नहीं है, मानो देह आत्मा ही हो उठी है।

दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि सौंदर्य सत्य रूप हो उठा है। सिद्धि की सीमा पर पहुँचते ही अलंकार निरर्थक ही नहीं होते, भार हो जाते हैं। वैष्णव कवि ने एक स्थान पर लिखा है, जब मिलन की घड़ी आई तो राधा ने अपने सारे गहने उतार फेंके। मन्त्रों का यही स्वभाव है—वहाँ भाव और भाषा एकाकार हैं। वर्ड्सवर्थ के सम्बन्ध में मैथ्यु आर्नेल्ड ने एक बड़ी बात बताई है कि उनकी कविता जहाँ पराकाष्ठा को पहुँची है, वहाँ स्वयं कवि अंतर्धान हो गया है, प्रकृति स्वयं उसे लिख गई है। यों ऋषि भी कवि हैं और मन्त्र में काव्यत्व है। उपनिषद् की ये पंक्तियाँ दोनों दृष्टि से पूरी हैं—

तमेवभान्तमनुभाति सर्वम्
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।

वाल्मीकि और व्यास को हम इसीलिए ऋषि कहते हैं, क्योंकि उनका कृतित्व काव्य को मन्त्र की सीमा तक ले गया है। वेद-उपनिषद् के मंत्रों में काव्यत्व भी है, क्योंकि जो कल्पना-वैचित्र्य, व्यंजना और शक्ति व्यास-वाल्मीकि में है, वह अर्थ-शक्ति, ध्वनि-सुषमा और व्यंजना उनमें हैं। जैसे,

वाल्मीकि कहते हैं—तेजसादित्य सङ्काशः क्षमया पृथिवीसमः (तेज में आदित्य की प्रयान्सा, क्षमा में धरती के समान) अथवा—गतार्च्चिषमिवानलम् (शिखाविहीन अग्नि के समान) या कि व्यास का—विवेशरंगं विस्तीर्णं कर्णः पादचारीव पर्वतः (विस्तृत सभा में पादचारी पर्वत के समान कर्ण ने प्रवेश किया)।

उपमा आदि की यही विशिष्टता हमें उपनिषदों में भी सर्वत्र मिल जाती है। यथा—

शरवत्तन्मयोभवेत् (बाण-जैसा तन्मय होकर जाओ); अथवा—वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकः (आसमान पर पेड़ के समान स्वर्ग में दण्डायमान अद्वितीय एक)।

शतपथ ब्राह्मण में ऐसा उल्लेख आया है कि प्रजापति ने सर्वप्रथम आत्मनिष्ठ वाक् की उद्भावना की, बाद में वाक् और मानस के संयोग से नामरूपादि का विस्तार हुआ। ये वाक् और मानस क्रम से स्वर और वाणी के द्योतक हैं, जिनमें से एक की विरासत काव्य का लयात्मक आनन्द है और दूसरे की चेतना की सुषमा। वैदिक काल तक तो इन दो विशेषताओं की अलग लकीरें न फूट सकीं—दोनों एक विन्दु पर ही केन्द्रित रहीं। कुछ आगे चलकर वेद की मुक्त भाषा व्याकरण के बन्धनों से बाँधी गई और स्वर, लय और ताल के जाल से घेरा गया। तब तक वाल्मीकि ने छन्द की उद्भावना की और गीत-क्रम से लोक-गान हो गया, जिस पर नई-नई उद्भावित राग-रागिनियों का गाढ़ा रंग चढ़ता गया। यह स्थिति महाभारत-काल तक तो चरम सीमा पर पहुँच गई। गीत संगीतमय ही रहे, उनका काव्यत्व फीका पड़ता गया। गीति-कविता को अपने स्वतन्त्र रूप में आने में बड़ी लम्बी दूरी तै करनी पड़ी।

गीति-कविता मूलतः स्वर और वाणी का एक सन्तुलित समन्वय है। यों तो संगीत सदा काव्यात्मक वाणी और काव्य सदा नाद-सौन्दर्य का आग्रही रहा है, परन्तु गीत संगीत-तत्व-प्रधान और काव्य वाणी-प्रधान ही होता है। चूँकि गीति-कविता संगीत के बजाय काव्य कुल की है, इसलिए उसमें वाणी की मुख्यता ही अपेक्षित भी है। पुराने काव्यालोचन में श्रव्य और दृश्य के

भेद से काव्य के दो ही भेद माने गए—महाकाव्य और खण्ड-काव्य। और स्वच्छन्द छन्दोबद्ध या निबंध रचना को मुक्तक कहा गया। मुक्तक के ही पाठ्य और गेय दो भेद मानकर आजकल कुछ लोग गीति-कविता को उसके अन्तर्गत गिनने लगे हैं। किन्तु गीतों या गेय मुक्तकों से गीति-कविता का मात्र संगीतात्मकता का ही फर्क नहीं है, कलात्मकता, स्वरूप और आत्मा का भी फर्क है।

मुक्तक को रसोद्रेक के लिए अनुबन्ध की आवश्यकता नहीं होती। एक ही में रस की पूरी अभिव्यक्ति या विषय का सांगोपांग चित्रण हो जाता है।[1] उसके प्रत्येक पद्य अपने-आपमें स्वतन्त्र होते हैं। उसे समझने में पूर्वापर प्रसंग की अपेक्षा नहीं होती।[2] इस प्रकार मुक्तक से मात्र छन्दों की इकाई ही उपस्थित होती है—जैसा कि आज की गजलों का स्वभाव है। गजल में एक टेक पर शेर तो कई टिके होते हैं, पर हर शेर की आत्मा, हर शेर का अस्तित्व दूसरे से जुदा होता है। सारी गजल की एकरस-सिद्धि में वे एक-दूसरे के अनुवर्ती या सम्बन्धी नहीं होते। गीति-कविता की प्रत्येक कड़ी, प्रत्येक पद, मूल भाव की स्थापना में एक दूसरे के सहायक और पूरक होते हैं। पूरी कविता में शुरू से आखिर तक एक सुष्ठु सामंजस्य, एक संगीत होता है। मुक्तक से आप भर्तृहरि, हाला या अमरुक के पद्य समझें, जिन्हें संदर्भ आदि बाह्य उपकरणों का कोई बन्धन नहीं है। मुक्तक की प्रबन्धात्मक, निबन्धात्मक शैलियाँ भी हैं। जैसे, 'मेघदूत' या 'ऋतु संहार'। इनमें से एक में आद्योपान्त एक कथानक का निर्वाह है, दूसरे में सर्गबद्धता और प्रत्येक सर्ग में एक विषय की एकवाक्यता। इनमें गीति-तत्त्व बहुत हद तक होते हुए भी, चूँकि आख्यान-काव्य के तत्त्वों का ही विशेष समावेश है, इसलिए इसे विशुद्ध गीति-कविता न कहकर हम प्रगीत-गाथा कहेंगे। इसमें वैयक्तिक हर्ष-शोक की व्यंजना भी किन्हीं अंशों में हम मानते हैं, लेकिन विशेष आग्रह आख्यान का ही है।

जयदेव के 'गीत-गोविन्द' की रचना से एक अभिनव शैली का सूत्रपात जरूर होता है, पर उनके गीत भी गीति-काव्यत्व के गुण-मण्डित नहीं हैं। उनमें अद्भुत प्रवाह है। गजब का शब्द-सौष्ठव है, भावात्मकता भी है। पर राग-ताल द्वारा सांगीतिक निष्ठा और वर्णन का बहुत अधिक मोह है। श्लोक, गद्य और गीत—सबके समावेश से राधाकृष्ण की जीवन-घटनाओं पर उन्होंने शृङ्गार की एक नई ही तन्मयता का दान काव्य-पिपासुओं को दिया है। उनकी रचना को किसी ने ग्राम्यरूपक, किसी ने गीति-नाट्य तो किसी ने संगीत-रूपक कहा है। पिशेल और लेवी के अनुसार उनकी रचना गीति-काव्य और नाटक के बीच की चीज है। जो हो, हम उन्हें गीति-कविता के बजाय गीत कहना अधिक उपयुक्त समझते हैं। उनमें वर्णन और संगीत के विधान की ही अधिक निष्ठा है, अनुभूति-व्यंजकता की कम। इसका एक कारण यह भी है कि जयदेव पर लोक-गीतों का प्रभाव परोक्ष रूप से ही पड़ा। जयदेव से कोई सवा दो सौ साल बाद कवि विद्यापति ने गीतों की एक स्वतन्त्र परम्परा की नींव डाली, जो गीत गो कि गीति-कविता के समीप थे। विद्यापति की अभिव्यंजना में वर्णन का आग्रह कम और शुद्ध रागात्मक आवेश की अधिकता है। कवि लोक-हृदय और लोक-भाषा के अधिक निकट था। उसने लोक-जीवन की और लोक-वाणी की उपेक्षा नहीं की और अपने गीत 'देसिल बचना' में ही गाये।

---

१. मुक्तकं श्लोक एवैकश्चमत्कारक्षमः सताम्—अग्नि पुराण।

२. पूर्वापर निरपेक्षेणापि हि येन रसचर्वणा क्रियते तदेव मुक्तकम्।—ध्वन्यालोक।

अनुपम गीति-सौन्दर्य के बावजूद हम विद्यापति के गीतों को शुद्ध गीति-काव्य नहीं कहते। विद्यापति में रागात्मक आवेश की वह संगीतात्मकता अवश्य है, जिसका विकास कि आगे चलकर गीति कविता में हमें मिलता है। किन्तु इस रागात्मक आवेश के अतिरिक्त गीति-कविता का एक सबसे बड़ा और अपरिहार्य तत्त्व जो है, वह है व्यक्ति-चेतना की अभिव्यक्ति। वैयक्तिक अनुभूति की मार्मिक व्यंजना ही मूलतया गीति-काव्य का उपजीव्य है। जिन्हें हम प्रगीत कहते हैं, वह वास्तव में मुक्तक का एक स्वरूप-विधान भर है—इसके विपरीत गीति-काव्य स्वरूप और वस्तु का एक संगतिपूर्ण सामंजस्य है। उसमें कवि की आंतरिकता, उसकी एकान्त व्यक्ति-अनुभूति संगीत-मुखर होकर आत्मप्रकाश करती है, वह आत्मानुभूति और संगीत की एक सन्तुलित अभिव्यक्ति है। काव्य के अन्य अनेक रूपों में समष्टिगत अनुभूति की मुख्यता होती है। कवि का हृदय जब सामाजिक आवेष्टन और देश-काल की संकीर्ण सीमा को छोड़ जाता है और उस स्थिति में उसकी आत्मानुभूति, व्यक्तिगत वासना-कामना, आनन्द-वेदना उसके अन्तस्तल से आवेगमय सुर के माध्यम से एक भाव-मूर्ति में प्रकाश पाती है, तब हम उसे गीति-कविता कहते हैं। दो शब्दों में गीति-कविता को हम कवि का हृदय-मुकुर कह सकते हैं: उसमें कवि की आत्ममुग्धता के दर्शन होते हैं, उसमें उसके प्राणों का स्पन्दन सुना जा सकता है।

इस आत्मानुभूति का मूलाधार तो अनन्त जगत् ही होता है, जिससे हृदय की एकाग्रता द्वारा, योग-दशा द्वारा कवि अपनी चित्त-वृत्ति को अभिव्यक्ति के अनुकूल बनाता है। इस विशेष चित्त-वृत्ति को गीति-वृत्ति कहा जा सकता है। इस वृत्ति और इस जाति की कल्पना-जात होने से ही गीति-कविता काव्य के अन्य अंगों से भिन्न हो उठी है, कवि-कल्पना के मूलतया दो पर्याय हैं—गीतात्मक या आत्म-केन्द्रित कल्पना तथा नाटकीय कल्पना। एक से विषयि-प्रधान या गीति-कविता जन्म लेती है, दूसरी से विषय प्रधान। दोनों के पीछे दो तरह की अंतर्दृष्टि काम करती है—आपेक्षिक दृष्टि एवं निरपेक्ष दृष्टि। वास्तव में तो कवि के निजत्व से परे उसकी कोई रचना नहीं होती, किन्तु आपेक्षिक दृष्टि-प्रसूत रचना विशेष रूप से भाव-प्रधान और आत्मधर्मी होती है। इस आत्मपरायण कविता में बहुत हद तक संकीर्णता की बू होती है, यदि कवि का अन्तस्तल महत् नहीं होता। स्वयं आत्मधर्मी गीतिकार रवीन्द्र तक ने इस कोटि की कविता में वह महिमा नहीं कबूल की। उन्होंने कवि की दो कोटियाँ मानी हैं और उस पर से काव्य के दो विभाग किये हैं—एक वह, जिसमें कवि की अपनी बात होती है और दूसरा वह, जिसमें किसी बड़े संप्रदाय या समाज की बात होती है। कवि की अपनी बात से रवीन्द्र का तात्पर्य उस सामर्थ्य से है, जिसमें उसके सुख-दुःख, उसकी कल्पना, उसकी अभिज्ञता से संसार के मनुष्य-मात्र का हृदयावेग और जीवन की मर्मस्पर्शी बातें स्वयमेव प्रतिध्वनित हो उठती हैं। इस श्रेणी के कवि महाकवि भी हो सकते हैं, रवीन्द्र को संभवतः इस पर आस्था नहीं। उनके खयाल में महाकवि वह होता है जिसकी रचना के अन्तस्तल से एक समग्र देश, संपूर्ण युग तथा कवि का हृदय और उसकी अभिज्ञता चिरस्मरणीय होकर रूप लेती है। ऐसे कवि महाकवि हैं, इसमें हमें कोई आपत्ति नहीं है। हम सिर्फ यह कहना चाहेंगे कि कवि की आन्तरिकता में यदि ईमानदारी का अभाव न होगा, उसकी आत्मानुभूति यदि युग की संवेदनीयता और सांगीतिकता के संगम पर मुखरित होगी, तो वह अभिव्यक्ति बेशक सार्वभौम होगी। बल्कि कल्पना की उस निरपेक्ष दृष्टि में वैसी अपूर्व क्षमता नहीं होती। उदाहरण के तौर पर यह कहा जा सकता है कि

काव्यों की परम्परा में तुलसी के राम की झाँकी 'साकेत' में नहीं उतर सकी है, न ही सूर के कृष्ण आज के 'प्रिय प्रवास' में वैसे उतर पाए हैं। इसके विपरीत गीतों की परम्परा में हम देखते हैं कि कबीर के गीतों की प्रतिध्वनि रवीन्द्र के गीतों में गूँजती है; मीरा की मर्म-वेदना की धड़कन महादेवी के गीतों में धड़कती है। इस रूप में सर्वकालिक और सर्वजन-संवेद्य होना गीतों के लिए अनहोना नहीं है। स्वयं रवीन्द्रनाथ महाकवि कहलाए, गो कि उन्होंने किसी प्रबन्ध काव्य की रचना नहीं की। पन्द्रहवीं सदी के पिछले पचास वर्षों में फ्रांस में एक गीतकार कवि पैदा हुआ, जिसकी काव्य-साधना से मिडिएवेलिज़्म दरगोर हो गई और उस पर फ्रांस के नवीन काव्य का युग आरम्भ हुआ। वह कवि विलन् था, जिसके गीतों को मैथ्यू आर्नल्ड ने चासर की साहित्यिक साधना से कहीं ऊँचा स्थान दिया। इस प्रसंग की अवतारणा से हमारा अभिप्राय यह नहीं है कि रचना का आदर्श विलन् की ही कविता है, बल्कि यह कि प्रबन्ध काव्य, नाटक या वर्णनात्मक काव्यों का ही श्रेष्टता पर जन्मसिद्ध अधिकार नहीं है, गीति-कविता पर भी श्रेष्ठता की वह मुहर लग सकती है बशर्ते कि आत्मानुभूति में वास्तव का स्पर्श हो।

हिन्दी-गीति-कविता को आज के अपने रूप तक पहुँचने में मूलतः चार मुख्य मंजिलें तै करनी पड़ी हैं। पहली अवस्था इसकी वह थी जब कि गीत गेय होते ही थे, उनमें भावों के विस्तार या प्रेषणीयता के लिए काव्यत्व का विशेष आग्रह नहीं था। उनके भाव-प्रकाश का प्रकृत माध्यम भावुकता के बजाय गेयता था। उस समय की सबसे बड़ी विशिष्टता तो यह थी कि जैसे उनके प्रत्येक भाव सामाजिक होते थे, वैसे ही उनकी हर अभिव्यक्ति सामूहिक हुआ करती थी। उनका आनन्द विषाद, दुःख-सुख, हर्ष-शोक, मिलन-विरह-जैसी वैयक्तिक अनुभूति का स्वरूप भी सामूहिक ही था। वैदिक मन्त्र उत्सवों के अवसर पर गीत होते थे और उनकी गेयता से सामाजिक रागात्मिका अनुभूति की उद्भावना होती थी। उस समय वैयक्तिक भावना का विकास नहीं हुआ था और लोगों पर अनुभूति की अपेक्षा राग-सुर ज्यादा हावी थे। प्राथमिक अवस्था में ऐसी स्थिति प्रत्येक जाति और प्रत्येक साहित्य की रही थी—इतिहास से यह पता चलता है। उत्सवों में सामूहिक गीतों की परिपाटी सभी जातियों में पाई जाती रही है। जातियों के प्राथमिक युग सामूहिक संस्कृतियों के ही युग होते हैं। वैयक्तिक भावना बाद में विकसित होने लगती है। ग्रीकों ने काव्य के दो भेद माने—सामूहिक (कोरिक) और गीत (मेलिक)। आगे चलकर गीत का अन्तर्भाव कोरिक में हो गया। हमारे यहाँ वैयक्तिक भावना का उन्मेष वैदिक युग के ही अन्तिम दिनों में होने लगा था और बौद्ध-युग में दुःखवाद की प्रधानता होने से उस भावना को थोड़ी और भी गति मिली, गो कि उनके निवृत्ति-मार्ग की पोषकता के कारण गेय काव्य का बड़ा ह्रास हुआ, क्योंकि नैतिक आचरण की प्रबलता ने सामाजिक आचार के पिछले स्वरूप को विनष्ट कर दिया। यहीं गीति-परम्परा की वह दूसरी अवस्था आती है, जहाँ संगीत और गीत दोनों की दूरी और उनकी अपनी-अपनी विशेषता साफ झलकने लगती है। इस अवस्था की देन मुख्यता वे लोक-गीत हैं, जिनमें अर्थ और भाव दोनों की प्रधानता के साथ काव्य और संगीत, दोनों के शास्त्रीय मानों के प्रति तीव्र विरोधिता है। उन गीतों द्वारा हार्दिकता, आत्मधर्मिता और संगीत की जगह संगीतात्मकता की प्रतिष्ठा होती है। गीत और काव्य की यह दूरी प्राकृत से अपभ्रंश काल तक देखी जाती है।

तीसरी अवस्था में गीति-काव्य अपनी अभीप्सित भाव-भूमि की ओर बहुत कुछ अग्रसर

देखा जाता है। इस अवस्था में गीतों में स्वर और भाव दोनों की समान प्रमुखता हो जाती है। हिन्दी-साहित्य के आदियुग में वीर-गाथा और वीर-गीतों की वह परम्परा आरम्भ हो जाती है, जिस पर लोक-गीतों के सहज सांगीतिक एवं मार्मिक भावैश्वर्य की स्पष्ट छाप दिखाई देती है। वीर-गाथाओं में गीतात्मकता का जहाँ-तहाँ अच्छा समावेश है। वैसे गीतों के विषय मुख्यतया युद्ध और प्रेम ही हैं। 'बीसलदेव रासो' और जगनिक का 'आल्हखंड', इन दो में ही वह गीतात्मक प्रवृत्ति बहुत हद तक निखर पाई है। बीसलदेव की रचना यद्यपि प्रबन्धात्मक शैली में हुई है और वह वीर-गाथाओं के युग की कृति है, तथापि उसमें वीर रस के बजाय-शृङ्गार का ही वास्तव में परिपाक हुआ है। कवि ने उसकी रचना गाने के ही उद्देश्य से की थी, ऐसा उसकी पंक्तियों से जाहिर होता है। जनता को सम्बोधित करके वह कहता है :

गायो है रास सुणै सब कोई।
सांभल्या रास गंगा फल होई॥
कर जोड़े नरपति कहई।
रास रसायण सुणै सब कोई॥

'रासो' में अवश्य हमें साहित्यिक-सौष्ठव के दर्शन नहीं होते, परन्तु सहज और स्वाभाविक भावों का सौन्दर्य है। वह युग कुछ था भी ऐसा कि स्वतन्त्र गीति-कविता के विकास का उपयोगी अवसर नहीं था। देश में राजनैतिक हलचल थी, समाज में कहीं शान्ति न थी। राजनीति के उस समय जो प्रमुख केन्द्र थे, राजस्थान, अजमेर, दिल्ली, कन्नौज आदि—सब युद्ध-लिप्त थे और उन्हीं केन्द्रों में राजाश्रित कवियों, भाटों या चारणों द्वारा साहित्य-रचनाएँ होती रहीं। फलतः वे रचनाएँ युद्ध, शिकार और राजाओं के विवाह आदि विषयों से आगे नहीं बढ़ सकीं।

मध्यकाल में शुद्ध शृङ्गार और प्रेम तथा भक्ति के गीतों की रचना बहुलता से हुई। इस युग में स्पष्टतया दो प्रमुख धाराएँ लक्षित होती हैं—सगुण और निर्गुण साधना। पहली धारा के प्रमुख पाये विद्यापति, सूर, तुलसी और मीरा हैं—दूसरी के कबीर, नानक, दादू आदि। गीतों की स्वतन्त्र परम्परा वास्तव में विद्यापति से ही शुरू होती है। विद्यापति में राधा-कृष्ण की लीलाओं के प्रति खासी अनुरक्ति होते हुए भी उनके गीत भक्ति के बजाय शृङ्गार-प्रधान ही हैं। मध्यकाल में शृङ्गारी-साहित्य की जो भी साधना हुई है, उसमें राधा-कृष्ण ही आधारस्वरूप रहे। संभवतः शृङ्गारी कवियों ने यह देखा कि धार्मिक भावना की इस ढाल को सामने रखकर शृङ्गारी-काव्य के साथ समाज के किसी भी क्षेत्र में प्रवेश करने में कठिनाई नहीं होगी। इसलिए अन्य लोग राधा-कृष्ण की परम्परा लेकर आगे बढ़े, विद्यापति साहित्यिक शृङ्गार को लेकर। विद्यापति में मूलतया मानवीय सौन्दर्य का आग्रह है और उसी आग्रह के प्रकाश-माध्यम या प्रतीक के रूप में राधा-कृष्ण का चित्रण हुआ है। इस प्रकार जयदेव की परम्परा के दूसरे बड़े स्तम्भ विद्यापति ही हैं। इनके पदों का धार्मिक महत्त्व चाहे जितना बड़ा आँका जाय, उनकी पदावलियों से लोग कितने ही चाहे भक्ति-विह्वल हों, उनमें मानवता का मूल-सुर प्रतिध्वनित हुआ है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। शृङ्गार-साहित्य के प्रारम्भिक काल में भक्ति उसके समानान्तर ज़रूर चलती है, किन्तु धीरे-धीरे शृङ्गार उसे छाप लेता है और आराध्य कृष्ण-राधा के विस्तार में डूब जाते हैं। काव्य में राधा की प्रतिष्ठा जयदेव के 'गीत-गोविन्द' के बाद ही हुई और जयदेव में संभवतः हाला-कृत 'गाथा सप्तशती' से। 'गाथा' में जगह-जगह गोपियों और राधा का ज़िक्र आया है। जैसे—

मुह मारुएण तं कण्ह गोरअ रहिआएँ अवणेन्तो ।
एताणं वल्लवीणं अण्णाण विगोरअं हरसि ॥

ऐ कृष्ण, मुँह की हवा के सहारे राधिका के (मुँह पर पड़े) गो-रज को उड़ाकर तुम अन्य गोपियों के गौरव का भी हरण कर रहे हो।

णच्चण सलाहण णिहेण पास परिसंठिआ णिउण गोरी।
सरिस गोविआणं चुम्बइ कपोल पडिमागअं कह्व।

गोपियाँ कृष्ण के साथ नृत्य-निरत हैं, उनके चिकने ललाट पर कृष्ण की परछाईं पड़ रही है। अपने बगल की गोपी की नृत्य प्रशंसा के बहाने कान के पास अपना मुँह ले जाकर एक गोपी दूसरी के कपोल पर प्रतिबिम्बित कृष्ण को चूमती है।

जयदेव गाथा-प्रभावित कवि जरूर हैं किन्तु लोक-सुलभ भावना उतनी साफ और सीधी शैली में उनकी रचनाओं में नहीं उतर पाई, जितनी कि विद्यापति में। विद्यापति के अलंकार अंग रस, नायिका-भेद, साहित्यिक प्रयोग आदि परम्परागत हैं, उनकी शैली प्राचीन संस्कृत एवं अपभ्रंश के प्रभाव से ओत-प्रोत है, फिर भी वे लोक-गीति-परम्परा के बहुत अधिक समीप हैं। उन्होंने लोक जीवन की लीलाएँ, उनके विश्वास, उनकी रीति-नीति को भी अपनी रचनाओं में अंगीभूत किया है। और इस कारण सौन्दर्य, भाव-विस्तृति, संगीतमयता और वेदना की जो तीव्रता विद्यापति में आ पाई है, बहुत बार जयदेव उससे पीछे रह जाते हैं। एक स्थान पर विद्यापति ने नारी-रूप और शिव-मूर्ति का एक ही चित्र दिया है। उस चित्र में भी काव्य की सौन्दर्य-भावना और कलात्मकता भक्ति से पीड़ित नहीं हो सकी है और नारी मन का एक सहज सुन्दर परिचय मिलता है :

कतन वेदन मोहि देसि मदना।
हर नहि बला, मोहि जुबति जना।
बिभुति भूषन नहि, चानन क रेनू।
बघ छाल नहिं, मोरा नेतक बसनू॥
नहि मोरा जटाभार, चिकुरक बेनी।
सुरसरि नहिं मोरा, कुसुमक श्रेणी॥
चाँदन क बिन्दु मोरा, नहिं इन्दु छोटा।
ललाट पावक नहिं, सिंदूरक फोंटा॥
नहिं मोरा कालकूट, मृगमद चारू।
फनपति नहिं मोरा मुकुता हारू॥
भनइ विद्यापति सुन देव कामा।
एक पए दूखन नाम मोर बामा॥

इसी चित्र को जयदेव ने भी उतारा है, किन्तु विद्यापति के चित्र को वह नहीं लगता :

हृदि विसलत हारो नायं भुजंगम नायकः;
कुवलय दल श्रेणी कण्ठे न सा गरल द्युतिः।
मलयज रजोनेदं भस्मप्रिया रहिते मयि,
प्रहर न हर भ्रांत्यानंग क्रुधा किमु धावसि।

राधा-कृष्ण की यह वृत्ति धीरे-धीरे रूढ़ि में परिवर्तित होती चली गई। केवल सूर और मीरा में उन वृत्तियों के साथ उत्कृष्ट साहित्यिक गीतात्मकता के दर्शन हमें मिलते हैं। सूर में भावुकता और हार्दिक वृत्ति बहुत प्रबल है, इसलिए उनके गीतों में विदग्धता और तन्मयता का परिमाण अपेक्षाकृत अधिक है। सूर के पदों में शान्त, वात्सल्य और शृङ्गार रस की मुख्यता है और आत्म-निवेदन, वियोग-वर्णन एवं बाल-यौवन के शृङ्गारी चित्र अधिक हैं। प्रबन्धात्मकता के बावजूद हार्दिकता के योग से उन पदों का गीति-सौन्दर्य विशेष निखर सका है। मीरा में उसकी वैयक्तिकता चूँकि सीधे रूप ले सकी है, इसके कारण उसकी आत्मीयता की सुषमा और लयात्मक व्यंजना और अधिक मर्मस्पर्शिणी हो सकी है। श्याम के बिछोह में वियोगिन गोपियों की आँखें आठों पहर बरसती हैं। सूर ने उसे शब्दों में इस प्रकार बाँधा है :

निस दिन बरसत नैन हमारे।
सदा रहति पावस रितु हम पैं जब तें स्याम सिधारे।
दृग अंजन न रहत निसि-बासर कर-कपोल भए कारे।
कंचुकि-पट सूखत नहिं कबहीं उर बिच बहत पनारे।

विरह की यह एक सार्वभौम दशा है और शब्दों में उसकी बड़ी सजीवता और मार्मिकता सूर की भावुकता से जीवन्त हुई है, किन्तु इसमें आत्मीयता के बजाय आरोपित भाव हैं। वही भाव जब और वैयक्तिक तथा निजी होकर मीरा की वाणी में ध्वनित होते हैं, शब्दों की लय-मानता से सांगीतिक प्रभाव और बढ़ जाता है। मीरा कहती है :

हेरी मैं तो प्रेम दिवाणी, मेरा दरद न जाने कोय।
सूली ऊपर सेज हमारी, किसविध सोणा होय।

इसकी आकुलता, दर्द और तड़पन उससे भी पुरदर्द है। तुलसी में इस तरह की भावुकता की कमी तो नहीं है, लेकिन उनमें सामाजिकता का आग्रह आत्मीयता से अधिक है। उन्हें सहज भावों के बजाय लोक-संग्रह, जन-कल्याण, धर्म-मर्यादा की बोझिलता में ज्यादा आकर्षण और आस्था है। फलस्वरूप उनकी रचनाओं में वैयक्तिक, रागात्मक अनुभूति की अपेक्षा सामूहिक चेतना का चित्रण अपेक्षाकृत अधिक है। रचनाओं में निजत्व के आरोप से सदा जान-सुनकर परहेज करते रहने के कारण लोक-सुलभ भाव और भाषा का सहज स्वरूप तुलसी में समाविष्ट नहीं हो सका। उसका एक स्पष्ट परिणाम हम यह देखते हैं कि 'रामायण' से श्रेष्ठ रचना होने के बाद भी 'विनय पत्रिका' जन-समाज में उतनी समादृत नहीं हुई और अपेक्षाकृत सरल तथा जीवन-निरूपक होने के कारण रामायण अधिक लोकग्राहिणी हुई।

निर्गुण-साधना की कड़ी में सबसे बड़े साधक कवि कबीर हुए। इनमें गोरखनाथ का शून्यवाद, मुस्लिम एकेश्वरवाद और सूफीमत का प्रेम-तत्त्व मिलकर जिस रहस्यवादी गीति-सौन्दर्य का उन्मेष हुआ, वह स्मरणीय है। दुःखवादी बौद्ध-युग में जो वैयक्तिक भावना 'थेरी गाथाओं' में यत्र-तत्र झाँक उठी थी, उसका एक उन्नत रूप कबीर के पदों में प्रकट हुआ। उदाहरण के तौर 'थेरी गाथा' की ये पंक्तियाँ देखिए :

कालका भमरवण्णसदिसा वेल्लितग्गा मम मुद्धजा अहु,
ते जराय साणवाक सदिसा सच्चवादि वचनं अन ञथा।

(भौंरों के समान मेरे काले, चिकने और घुँघराले केश बुढ़ापे के कारण आज सन और वल्कल-

वैसे हो गए हैं। परिवर्तन का चक्र इसी क्रम से चलता है। सत्यवादी की यह बात झूठ नहीं है।)

वैयक्तिक भावना की यह झाँकी कबीर में और तीव्र तथा परिष्कृत होकर सामने आई :

बालम आव हमारे गेह रे।
तुम बिन दुखिया देह रे॥
आनन भावै नींद न आवै ग्रिह बिन धरै न धीर रे।
ज्यूँ कामी को कामिनी प्यारी, ज्यूँ प्यासे को नीर रे।

अथवा

तलफै बालम बिनु मोर जिया।
दिन नहिं चैन रात नहिं निंदिया, तलफ-तलफ के भोर किया

किन्तु वैयक्तिक भावना का आरोप होते हुए भी निराकार आराध्य होने के कारण वह आत्मीयता कबीर में नहीं फूट सकी, जो कि मीरा में साकार प्रेमी के लिए आत्म-निवेदन में है। कबीर के

साईं बिन दरद करे जो होय।
दिन नहिं चैन रात नहिं निंदिया, कासे कहूँ दुख रोय॥

से मीरा के

दरस बिनु दूखन लागे नैन।
जब से तुम बिछुरे पिय प्यारे, कबहुँ न पायो चैन॥

में कहीं ज्यादा मार्मिकता है।

एक बड़ा दान गीति-कविता की दिशा में इस युग का यह रहा कि व्यक्ति के अपने हास-रोदन के माध्यम में सामूहिक दुःख-सुख को वाणी का रूप मिला। इन्हीं दिनों जब लोक-संवेद्य भक्ति-गीतों का प्लावन-सा आया हुआ था, लोक-जीवन की सांगीतिकता के शास्त्रीय पुनरुत्थान की कोशिशें भी समानान्तर से चल रही थीं। भाव और भाषा को साहित्यिक सुषमा का शृङ्गार दिया जा रहा था और संगीत को नई-नई राग रागिनियों का शास्त्रीय जामा। काव्य के क्षेत्र में स्वर और वाणी को समान प्रधानता चल रही थी। रीति-काल के आलंकारिक मोह से गीत-सौष्ठव को पर्याप्त धक्का जरूर लगा, किन्तु उसकी प्रतिक्रियास्वरूप भारतेन्दु युग ने गीतों के सर्वथा नवीन और ऐश्वर्यमय युग की सूचना दी। शास्त्रीय संगीत के नियमित बन्धनों में जो वाणी रुद्ध थी, भारतेन्दु की साधना से उसे मुक्ति मिली। उसी समय से शास्त्रीय संगीत के संस्कार की चेष्टाएँ शुरू हो गई कि वह लोक-ग्राह्य भी हो सके। महाराष्ट्र के भातखण्डे-स्कूल और बंगाल के टैगोर स्कूल ने काव्य और संगीत की संगति के लिए उसका अनुकूल परिष्कार-संस्कार किया। काव्योप-युक्त सांगीतिक स्वर-योजना पर अंग्रेजी संगीत से प्रभावित रवीन्द्र की खासी छाप पड़ी और हिन्दी गीतों पर स्वर-समन्विति का वह विदेशी प्रभाव कुछ तो बंगला-गीतों के माध्यम से आया और कुछ सीधे अंग्रेजी से। यह प्रभाव संगीतात्मकता ही पर नहीं पड़ा, बल्कि काव्य के अन्तर-दर्शन पर भी उसकी पूरी छाप पड़ी। गीति-कविता धीरे-धीरे सामूहिक धरातल से हटकर आत्म-निष्ठता पर केन्द्रित होती गई। उसकी पिछली संगीतमयता गौण होकर प्रधान उपजीव्य हृदय के भाव ही होते गए। जैसा कि अंग्रेजी गीत-साहित्य के लिए आलोचक हर्बर्ट रीड ने कहा है कि गीत का मूल अर्थ अब लुप्त हो गया है और गीत के मानी भावात्मक कविता हो गया है,

जिसमें भावात्मक चेतना का अनायास प्रवाह फूट उठता है।

इस प्रकार पिछले गीतों से आज की गीति-कविता सम्पूर्णतया-पृथक्-सी हो गई। भक्ति-काल के गीतों का बहुत बड़ा ऋण आज की गीति-कविता पर अवश्य है, किन्तु इसने अपनी एक स्वतन्त्र सत्ता कायम कर ली है। वे गीत मुख्यतया गाने के लिए रचित हुए थे। प्रत्येक भक्त कवि किसी-न-किसी सम्प्रदाय का अंग था और उस हिसाब से उनके साधन-मार्ग भी साम्प्रदायिक थे। वे कवि द्वैतवादी थे, इसलिए उनका संसार दर्शन राधा-कृष्ण के रूपक के माध्यम से प्रकट हुआ। आज की गीति-कविता मुख्यतया कविता है, संगीत नहीं। इसके गीतोच्छ्वास में व्यक्ति की स्वानु-भूति होती है। भक्ति-गीतों का धरातल गोष्ठीगत धर्मचेतना था—गीति-कविता की पृष्ठभूमि विश्व चेतना है। उन गीतों की अन्तर-वस्तु प्रेम था, गीति-कविता का आधार अनन्त जगत् है। तब की वैयक्तिक अनुभूति परोक्ष होती थी, अब प्रत्यक्ष। इस प्रकार स्पष्ट है कि गीति-कविता की यह उत्क्रांति मात्र स्वरूपगत ही नहीं है, सभी बातों, सभी दिशाओं में है।

अंग्रेजी या बंगला के प्रभाव से जिस छायावादी कविता का उन्मेष हिन्दी में हुआ, वह सब-की-सब इस गीति-कविता की कसौटी पर खरी उतरेगी, यह तो नहीं कहा जा सकता : किन्तु विषय, भाव और वैचित्र्य की दृष्टि से छन्द और सांगीतिकता का उसने गीति-कविता को बहुत बड़ा वैभव दिया। स्वानुभूति मात्र अपने हर्ष-शोक, विरह-मिलन के हास-अश्रु की लड़ियों का ही शृङ्गार नहीं करती— देशात्मबोध, मानवीयता, प्रकृति-चित्र, आत्मदर्शन इन सबकी विविधता की महिमा से वह ऐश्वर्यशालिनी है। नवीन छन्द, नई ध्वन्यात्मकता, नई उपमाएँ, अभिव्यंजना की नई दिशा, नई अर्थशक्ति—इन सबके समावेश से नई गीति-कविता ने हिन्दी की समृद्धि की है। जहाँ तक हमारी अपनी मान्यता है कि आरम्भिक दिनों में छायावादी प्रयोगों में आत्मानुभूति की तीव्रता और प्रगीतात्मकता, दोनों का समन्वय तो हुआ है, लेकिन उसमें वह गीति-सौन्दर्य नहीं है, जो गीति-कविता के लिए काम्य है। गीति-कविता की आत्मानुभूति लोक-सुलभ और उसकी सांगीतिकता सहज होनी चाहिए। इन्हीं दो गुणों के अभाव में प्रारम्भिक छायावादी कविता का हिन्दी में विरोध हुआ। किन्तु इस सदी की दो दशाब्दी बाद शुद्ध गीति-सौन्दर्य का उन्मेष हिन्दी-कविता में हुआ। प्रसाद और निराला उस गीति-युग के दो छोर हैं—महादेवी बीच की कड़ी। प्रसाद के गीतों का एक रूप तो उनके नाटकों में है, दूसरा स्वतन्त्र गीति-कविता में। दोनों ही प्रकार के गीतों में प्रसाद जी का समान कृतित्व है। उनके नाटकों के गीत भी स्वतन्त्र गीतों-जैसे ही हैं, जिससे दर्शकों के लिए ही वे संवेद्य नहीं हैं, समान रूप से आस्वादनीय भी हैं। प्रसाद जी पहले कवि हैं, बाद में शब्दकार। गीति-योजना के अनुरूप स्वर और शब्द का समन्वय सफल शब्दकार के लिए ही विशेष सहज होता है। यह सामर्थ्य प्रसाद की अपेक्षा निराला में अधिक तेज-सम्पन्न है। किन्तु स्वर की अनुवर्तिता ने उनमें वाणी की स्व-महिमा को किसी हद तक लुप्त कर दिया है। प्रसाद में यह बात नहीं आ पाई है। उनकी 'कामायनी' के 'गीत' इस स्वर-बोझ से बोझिल नहीं हैं, वाणी मुक्त है। 'निराला' की 'गीतिका' के गीतों में रागात्मक उत्तेजना के स्थान पर सांकेतिक अभिव्यंजना गहरी हो गई है, तन्मयता के बजाय संगीतमयता प्रधान हो गई है। महादेवी में अरूप प्रियतम के प्रति आत्म-निवेदन की करुण-सजलता और उत्सर्ग-भावना ने कैसी तो अस्पष्टता ला दी है। अरूप के प्रति ऐसा आत्म-निवेदन तो कबीर में भी है, लेकिन उसकी अभिव्यक्ति एक ऐसी भाव-भूमि पर हुई है जो लोक-सामान्यता

के समीप है। मीरा के आत्म-निवेदन की भी यह विशेषता है कि वह उस कृष्ण के प्रति है, जिसकी भावना लोक-जीवन का अंग थी। महादेवी इन दोनों के परे नितांत एकान्तिक हैं। किन्तु उनकी रचनाओं में वाणी की प्रधानता और चित्रात्मकता का अनोखा सौन्दर्य है, इसलिए उनमें रस और सौन्दर्य का अपूर्व सम्मिलन घटित हुआ है।

पन्त में प्रगीतात्मक सामर्थ्य अद्भुत है, गीति-प्रतिभा अपेक्षाकृत कम। जहाँ तक शब्द-सौन्दर्य, चित्रात्मकता, लाक्षणिक वैभव, ध्वन्यात्मकता, इन बातों का प्रश्न है, पंत अद्वितीय हैं। किन्तु जिस तीव्र आत्मानुभूति से गीति-कविता का जन्म होता है पंत में उसका अभाव है। जो भी हो, गीति-कविता का यह युग स्वर्ण-युग है। हिन्दी में गीति-सौन्दर्य की ही समृद्धि नहीं हुई, नये छन्दों की उद्भावना और मानसिक भावों के वैचित्र्य से कविता का कलेवर निखरा। इनके अतिरिक्त द्विज, नेपाली, बच्चन, नरेन्द्र शर्मा आदि ने अपनी रचनाओं से उसके वैचित्र्य के ऐश्वर्य को और बढ़ाया। गीति-कविता के वर्गीकरण के मुताबिक सम्बोधन-गीति, शोक-गीति, व्यंग-गीति, चतुर्दश पदी आदि सभी अंगों पर हिन्दी में सफल रचनाएँ हुई हैं और अभी हो रही हैं—सम्भवतः और समर्थ प्रतिभा इस दिशा में आगे आये। फिर भी हमें स्वीकार करना पड़ता है कि गीति-कविता अपने चरमोत्कर्ष पर अभी नहीं पहुँची है। उसमें जिस सर्वजन-संवेद्य विशेषता की अनिवार्यता है, वह गुण अभी इसमें नहीं आ पाया है, न संवेदनीयता में, न सांगीतिकता में। अतएव अभी हमें उस दिन की अपेक्षा है, जब गीति-कविता लोक-जीवन से घुल-मिल जाय और कवियों की वाणी जन-जन के अधरों पर थिरक उठे। किन्तु भावात्मक कविता के प्रति लोक-जीवन-ग्राह्य न होने का दोष लगाकर जो एक बुद्धिवादी प्रतिक्रिया आज सामने है, उसमें इस परम्परा के रूप को शायद कुछ ठेस पहुँचे। किन्तु इतना निर्विवाद है कि भावना नहीं मरेगी और इस-लिए भावात्मक रचनाओं का भविष्य-जीवन भी सुरक्षित है। कभी जिस बुद्धिवाद के प्रति विद्रोह से अंग्रेजी में रोमांटिक काव्य का जन्म हुआ था आज उसी के प्रति बुद्धिवाद के विद्रोह की पुनरावृत्ति देखी जाती है, किन्तु भावुकता वहाँ भी जीवित रह जाती है।

जगदीशचन्द्र माथुर

हिन्दी रंगमंच और नाट्य-रचना का विकास

शायद भारतेन्दु के निबन्ध 'नाटक' के आधार पर यह माना जाता कि है हिन्दी-भाषा में सर्वप्रथम नाटक सन् १८६२ में काशी में 'जानकी मंगल' नाम से खेला गया। कुछ विद्वान अवध के नवाब वाजिदअली शाह के दरबार में १८५३ में खेले गए उर्दू कवि अमानत-विरचित 'इन्दरसभा' में लिखित रंगमंचीय नाटकों का सूत्रपात देखते हैं। लिखित नाटकों में इससे पूर्व तीन और रचनाओं का नाम लिया जाता है, एक तो १६४३ ई० के लगभग जोधपुर-नरेश जसवन्तसिंह द्वारा किया हुआ संस्कृत-नाटक 'प्रबोधचन्द्रोदय' का हिन्दी अनुवाद, दूसरा १७०० के लगभग रीवाँ-नरेश विश्वनाथसिंहजू द्वारा लिखित मौलिक नाटक 'आनन्द रघुनन्दन'[1] और तीसरा १८४१ ई० में भारतेन्दु के पिता गोपालचन्द्र द्वारा प्रणीत 'नहुष' नाटक। किन्तु इन तीनों नाटकों के रंगमंच पर खेले जाने का कोई प्रमाण नहीं मिलता, खेलने के लिए शायद ये लिखे ही नहीं गए।

अनजाने ही हिन्दी-समालोचकों और इतिहासकारों ने इन मान्यताओं के आधार पर हिन्दी-नाट्य-रचना और रंगमंच के इतिहास को संकुचित और अल्पसीमित कर दिया है। वस्तुतः यह इतिहास काफ़ी पुराना है और भक्तिकालीन काव्य का उषा-काल हिन्दी-नाट्य रचना और रंगमंच का भी सुप्रभात माना जाना चाहिए। दोनों को प्रेरणा मिली उस विराट् वैष्णव आन्दोलन से जिसने १३ वीं सदी से लेकर तीन शताब्दियों तक उत्तर-भारत को आप्लावित कर रखा, जिसने भारतीय संस्कृति और समाज में रसानुभूति और भावोन्मेष की बाढ़ सी उपस्थित कर दी और जिसके प्रभावस्वरूप भारतीय चिन्तन-धारा ने एक युगान्तरकारिणी नई दिशा पकड़ी। उस उल्लास की वाणी केवल भगवद्-भक्ति से भरे-पूरे पद और आख्यान ही नहीं थे। भक्ति-भाव को जाग्रत करने के लिए भगवान् की लीलाओं का नाटकीय प्रदर्शन अत्यन्त सफल और आकर्षक साधन था। भगवान् के जिस रूप की प्रतिष्ठा भक्ति-युग में हुई वह उनका हँसता-खेलता, अथवा प्रेम-क्रीड़ाओं में निमग्न अथवा सतत कर्म-रत आदर्श रूप था। स्पष्ट है कि एक आकर्षक और लोकप्रिय रंगमंच के लिए प्रचुर सामग्री इस तरह प्रस्तुत हो गई। वैष्णव जागृति द्वारा धर्म का जो रूप विकसित हुआ वह लोकाश्रयी था—जनसाधारण की प्रवृत्तियों के सहारे ही उसका उत्कर्ष हुआ। इसलिए दुरूह आध्यात्मिक सिद्धान्तों की माध्यम—संस्कृत की अपेक्षा 'देशी' भाषाओं में ही इस नवीन रंगमंच के लिए नाटकों की माँग हुई। पश्चिम में व्रजभाषा, मध्यदेश में अवधी और पूर्व में मैथिली—इन 'देशी' भाषाओं में भक्तवत्सल भगवान् की लीलाओं का नाटकीय प्रदर्शन किया जाने लगा। इस रंगमंच के मुख्यतः दो क्षेत्र थे—मन्दिर और राज-दरबार। वैष्णव रंगमंच की पश्चिमी शाखा मन्दिरों और उसी भाँति के अन्य धार्मिक स्थानों में विकसित हुई और

१. विश्वनाथसिंहजू ने कदाचित् एक और नाटक 'गीता रघुनन्दन' की भी रचना की थी।

पूर्वी शाखा प्रायः राज-दरबारों में। मन्दिरों में प्रचलित रंगमंच के मुख्य रूप थे रासलीला और रामलीला, और ये दोनों ही रूप आजतक धार्मिक लोक-रंगमंच की परम्परा को कायम रखते रहे हैं। रासलीला का प्रथम आयोजन वल्लभाचार्य द्वारा किया माना जाता है; रामलीला का श्रीगणेश स्वयं तुलसीदास जी ने किया—ऐसी कुछ लोगों की धारणा रही है। ये दोनों धारणाएँ ऐतिहासिक तथ्य पर अवलम्बित हैं या नहीं यह विवादास्पद हो सकता है। लेकिन इन विश्वासों की तह में एक महान् साहित्यिक सत्य छिपा पड़ा है। इन दोनों महापुरुषों ने कृष्ण और राम की जो दो धाराएँ प्रवाहित कीं उनका, उदीयमान और लोकप्रिय वैष्णव-रंगमंच से सीधा सम्बन्ध था। मेरा तो विचार है कि बहुतांश में सूरदास की पदावली dramatic byrico थीं और तुलसीदास का प्रबन्ध-काव्य dramatic narrati ve. सूरदास के अनेक पदों की शैली से साफ़ ज़ाहिर होता है कि विशेष पात्रों द्वारा गाये जाने के लिए शायद वे लिखे गए। इन्हें फुटकर कविता-मात्र समझना स्वयं कवि और तत्कालीन परिस्थिति के प्रति अन्याय करना होगा। रामलीला और कृष्णलीला के कथानक तो सर्वविदित थे ही; उनमें नवीनता के आरोपण की गुञ्जाइश ही न थी। किन्तु पात्रों के संवादों में चमत्कार और रस का समावेश किया जा सकता था। सम्भवतः कृष्ण-काव्य के ये स्फुट पद इसी माँग को पूरा करने के लिए लिखे गए। इन 'संवादों' को एक सूत्र में बाँधने वाली कड़ी—यानी सूत्रधार के संकेत, आगमन और प्रस्थान की सूचनाएँ कथानक की गति—का कोई ब्यौरा नहीं मिलता। जान पड़ता है ये सब निर्देश मौखिक हुआ करते थे जैसा रामलीला में आज तक होता है। 'रामचरितमानस' के अनेक संवाद तो छोटे-मोटे एकांकी नाटक ही जान पड़ते हैं। कुछ विद्वानों के मतानुसार 'अयोध्या कांड' में घटनाओं का गुम्फन, चरित्र-विकास, आन्तरिक और बाह्य द्वन्द्व एवं करुणा रस का पर्यवसान—इन सभी नाटकीय अंगों का निरूपण इस खूबी के साथ हुआ है कि उसे यूनानी दुःखान्त नाटकों की श्रेणी में रखा जा सकता है। जो भी हो, इतना तो स्पष्ट है कि 'रामचरितमानस' के कवि की नज़र बराबर रामचन्द्र की लीलाओं के नाटकीय प्रदर्शन की ओर रही है; समूचा कथानक संवादों के माध्यम से अनावृत हुआ है और कई स्थलों पर विभिन्न प्रकृति के पात्रों द्वारा तर्कपूर्ण शैली में वार्तालाप का प्रयोग रंगमंच के लिए अत्यन्त उपयुक्त है। रामलीला-रंगमंच की कतिपय विशेषताएँ उसे यूरोप के Pasion Plays के समकक्ष रख देती हैं। उत्तर प्रदेश के कई नगरों में रामलीला-प्रदर्शन एक ही मंच एवं प्रेक्षा-गृह में न होकर भिन्न-भिन्न स्थानों पर अपेक्षित दृश्य के अनुकूल वातावरण और पूर्वस्थित पृष्ठभूमि से लाभ उठाते हुए किया जाता है। वनवास तक की लीलाएँ मन्दिरों में होती हैं: गंगापार के लिए नगर के किसी जलाशय अथवा नहर को चुना जाता है। चित्रकूट और उसके बाद की लीलाएँ नगर के बाहर एक विस्तृत मैदान को घेरकर की जाती हैं; भरत-मिलाप और राजतिलक के लिए पुनः मंडली नगर को वापस आती है। इस तरह रामलीला का रंगमंच अपने ढंग का यथातथ्यवादी (realistic) रंगमंच है और साथ ही वस्तु-विषय की महत्ता का द्योतक भी। लोक-परम्परा से भी रामलीला—रंगमंच ने बहुत-कुछ पाया, विशेषतः परिहास के प्रसंग और पात्र। किन्तु 'रामचरितमानस' इन अभिनयों का प्राण बराबर रही और इसी कारण रामलीला में लोक-रंगमंच का साहित्यिक रूप सुरक्षित रहा है, रासलीला की ही भाँति।

फिर भी यह मानना पड़ेगा कि वैष्णव-रंगमंच की यह पश्चिमी शाखा नाटक के मौलिक रूप और उसकी विशेषताओं को अक्षुण्ण न रख सकी; कालान्तर में ब्रज-मंडल के गीत-नाट्य के

पद, भक्त-गवैयों के लिए गीत-काव्य बनकर रह गए। रंगमंच से उनका नाता टूटता चला गया। १८ वीं सदी तक आते-आते तो कवि गायक से भी विमुख हो चला। उधर यह रंगमंच ह्रासोन्मुख लोक-जीवन से पाथेय लेता हुआ चलता रहा, किन्तु सुरुचि और उदात्त भावनाओं का बहिष्कार एवं बाह्याडम्बर की बहुलता इस रंगमंच की विशेषताएँ थीं। इस तरह एक महान् नाट्य-रचना-शैली की सम्भावनाएँ नष्ट हो गई। कारण स्पष्ट है;—राज्य-संरक्षण का अभाव! सुव्यवस्थित रंगमंच और साहित्यिक नाट्य-लेखन संरक्षण के सहारे पनपता है।

वैष्णव-रंगमंच की पूर्वी शाखा को यह संरक्षण उपलब्ध था। १५ वीं सदी से लेकर १८ वीं सदी के बाद तक मिथिला, नेपाल और आसाम में हिन्दी की समृद्ध और प्यारी उपभाषा—मैथिली में ३५ से ऊपर उच्चकोटि के नाटककारों एवं कवियों ने १०६ से ऊपर नाटकों की रचना की जो सभी उस रमणीक वैष्णव-रंगमंच पर खेले गए और मैथिली एवं हिन्दी-साहित्य की अमर निधि बन गए। आश्चर्य है कि किसी भी हिन्दी-साहित्य के इतिहास में इन नाटकों और इस शैली का उल्लेख नहीं मिलता, यद्यपि मूलतः ये विद्यापति की पदावली की परम्परा में ही लिखे गए, और विद्यापति की गणना हिन्दी के आदिकवियों में होती है। वस्तुतः विद्यापति ही इस शाखा के प्रथम नाटककार माने जा सकते हैं, हाल ही में प्राप्त उनका 'गोरक्ष-विजय नाटक' इस शैली का शायद सबसे पहला नमूना है। जिस समय दिल्ली और लगभग सारे उत्तरी भारत में मुसलमान बादशाहत के अन्तर्गत भारतीय संस्कृति के वे रूप, जिनमें बुतपरस्ती की गन्ध आती थी, राज्याश्रय से वंचित होकर द्रुत गति से क्षीण होते जा रहे थे, उत्तरी-पूर्वी कोण में—मिथिला, नेपाल और आसाम के अंचल में कुछ हिन्दू राज-वंश, बादशाहत के प्रभाव से दूर रहकर भारतीय संस्कृति के इन मनोरम रूपों को सुरक्षित रख सके। १४ वीं सदी के प्रारम्भ में मिथिला के कर्णाट-वंश के अन्तिम नरेश हरिसिंह देव मुसलमानों से पराजित होकर नेपाल गए, ऐसा कुछ विद्वानों का विश्वास है। कुछ भी हो मिथिला से पंडित, संगीतज्ञ और नटों इत्यादि का नेपाल में आगमन उसी समय के आस-पास हुआ, और कुछ ही वर्षों के उपरान्त नेपाल के मल्लवंशीय नरेशों द्वारा मैथिल-परम्परा में रंगमंच की वैभवपूर्ण स्थापना हुई। इस वंश के सात राजाओं के द्वारा अथवा उनके आश्रित कवियों द्वारा अनेक नाटकों की रचना हुई, जिनमें विशेष उल्लेखनीय हैं—जगज्ज्योतिर्मल्ल (सन् १६१८-१६३३) का 'कुञ्जविहारी नाटक', सुमतिजितामित्रमल्ल (१६८२-१६६५) का 'मदालसा हरण', भूपतीन्द्रमल्ल(१६६५-१७२२) का विशालकाय 'महाभारत' और रणजीत-मल्ल (१७२२-१७७२) का 'माधवानल काम कंदला'। मल्ल-वंश के राजाओं के अतिरिक्त नेपाल में उनके समकालीन तीन और राज-कुल थे जिनके संरक्षण में रंगमंच का यथेष्ट विकास हुआ। काठमंडू के राज-कुल के आश्रय में वंशमणि झा ने 'गीत दिगम्बर' नाटक की रचना की। ललितपुर अथवा पाटन के राज-कुल के सिद्ध नरसिंहदेव के समय में किसी अज्ञात लेखक ने 'चण्डकौशिक' के आधार पर १६५१ में 'हरिश्चन्द्रनाट्यम्' की रचना की (इस नाटक से भारतेन्दु के 'सत्यहरिश्चन्द्र' का मिलान अध्येताओं के लिए रोचक विषय होगा।) बाँकियापुर के राज-कुल में जयरणमल्ल के समय में जयरामदत्त द्वारा 'पाण्डव-विजय' नामक नाटक की रचना हुई। इधर मिथिला में कर्णाट-वंश की क्षय के बाद विद्यापति के आश्रयदाता, ओइनवार-वंश के राज-कुल ने देशी भाषा के रंगमंच के लिए पृष्ठभूमि तैयार कर दी, वैष्णव काव्य-धारा को प्रोत्साहन देकर मैथिली नाट्य-परम्परा की उद्भावना तो बाद में खाण्डवकुल (वर्तमान दरभंगा-नरेश) की स्थापना

होने पर ही हुई। इन नरेशों ने वैष्णव-रंगमंच को स्थायी और सजीव रूप दिया। लगभग १६ नाटककारों ने एक पुष्ट रंगमंच की माँग को पूरा करने के लिए अपनी कृतियाँ प्रस्तुत कीं और १६ वीं सदी के अन्त तक यह ताँता चलता रहा। कुछ रचनाओं के नाम ये हैं—रामदास झा का 'आनन्द-विजय' नाटक (१६५०), देवानन्द का 'उषा-हरण', उमापति उपाध्याय का 'पारिजात-हरण' (१७००), रमापति उपाध्याय का 'रुक्मिनी परिणय', लालकवि (१७४४ १७६१) का 'गौरि-स्वंयबर', नन्दीपति का 'श्रीकृष्णकेलिमाला', गोकुलानन्द का मानचरितनाटक, श्रीकान्त-गायक का 'श्रीकृष्ण जन्म रहस्य' इत्यादि-इत्यादि। इनमें सर्वोत्कृष्ट रचना है, उमापति उपाध्याय का 'पारिजात-हरण' और इसके विषय में सबसे महत्त्वपूर्ण बात है कि यह नाटक बुन्देलखण्ड के छत्रसाल-वंश के किन्हीं हिन्दूपति नामक राजा के दरबार के लिए लिखा गया और वहीं इसका अभिनय हुआ। मिथिला के इन 'कीर्तनिया' नाटकों (यही संज्ञा इन नाटकों को दी जाती है) से मिलते-जुलते लेकिन उनसे कहीं पहले आसाम में मैथिली भाषा 'अंकिया नाट' कहे जाने वाले वैष्णव नाटकों की रचना हुई। प्रसिद्ध आसामी वैष्णव शंकरदेव (१४४६-१५६८) ने इन नाटकों की भाषा मैथिली शायद इसलिए रखी कि आसामवासियों की दृष्टि में वह श्रीकृष्ण की क्रीड़ास्थली ब्रजमण्डल की भाषा के बहुत निकट थी। 'अंकिया नाटों' में विशेष उल्लेखनीय हैं शंकरदेव का 'कालियदमन', माधवदेव का अर्जुनभंजन', गोपालदेव का 'जन्म-यात्रा' और रामचरण ठाकुर का 'कंस-वध'। 'अंकिया नटों' का उत्कर्ष कामरूप के एक राज-कुल के कूचबिहार में स्थापित होने के बाद हुआ, विशेषतः राजा नर नारायण के समय में।

इस नाट्य-साहित्य और उसके रंगमंच-सम्बन्धी सामग्री इतनी प्रचुर मात्रा में मौजूद है कि उसके अध्ययन के लिए एक स्वतन्त्र ग्रन्थ की आवश्यकता पड़ेगी। यहाँ संक्षेप में वैष्णव रंगमंच और नाटक की इस पूर्वीय शाखा (जिसे कीर्तनिया नाटक की संज्ञा देना ही समीचीन जान पड़ता है) की कुछ विशेषताओं का उल्लेख किया जाता है: (१) ये नाटक प्रायः राज्याश्रय में लिखे गए और इनके द्वारा राज-दरबारों में रंगमंच की प्राचीन परम्परा जारी रही। (२) इन नाटकों में दो रचना-प्रणालियों का समन्वय दृष्टिगोचर होता है, संस्कृत-नाट्य-रचना, और वैष्णव-काव्य-धारा, जिसने कीर्तनों का रूप लिया था। आसाम को छोड़कर अन्य दो स्थानों में इन नाटकों का प्रारम्भ संस्कृत नाटकों के रूप में ही हुआ, जिनमें यत्र-तत्र हिन्दी (मैथिली) गीतों का समावेश किया जाता था। ये गीत विद्यापति की शैली में लिखे जाते थे, राग-रागिनियों का उल्लेख होता था। गद्य, संवाद और संकेत संस्कृत और प्राकृत में ही होते थे। धीरे-धीरे इस मिश्रित शैली के स्थान पर शुद्ध मैथिली का प्रयोग होने लगा। आसाम में जहाँ वैष्णव-आन्दोलन की भावना तीव्र थी, प्रारम्भ से ही गद्य और पद्य दोनों की भाषा मैथिली थी। (३) यद्यपि राज-दरबारों से इस रंगमंच को आश्रय मिला तथापि दर्शकों में प्रत्येक वर्ग की जनता होती थी; वास्तव में तो कीर्तनिया-रंगमंच प्रारम्भ से ही गरीब-अमीर, ब्राह्मण-शूद्र—सभी प्रकार की जनता के मनोरञ्जन और शिक्षा का साधना बन गया। (४) इन नाटकों के कथानक प्रायः श्रीमद्भागवत, हरिवंशपुराण एवं महाभारत से लिये गए हैं। कृष्ण-लीला, रुक्मिणी-हरण, शिव-विवाह इत्यादि विषयों पर बार-बार नाटक लिखे गए। कथानक-वैचित्र्य की ओर न रचयिताओं का ध्यान था, न दर्शकों का। (५) राज-पण्डितों और स्वयं राजाओं ने जो नाटक लिखे उनका नाट्य विधान सुव्यवस्थित और संस्कृत नाटक के नियमानुसार होता था। किन्तु अन्य नाटकों

में विशेषतः आसाम की रचनाओं में शिल्प-विधान स्वच्छन्द होता चला गया; रंगमंच की आवश्यकतायें बदल गईं। सूत्रधार और नटी प्रस्तावना के बाद भी पूरे अभिनय-भर मंच पर मौजूद रहने लगे; दृश्य-परिवर्तन के लिए पर्दे इत्यादि की सुविधायें थी नहीं, इसीलिए सूत्रधार और नटी (आसामी नाटक में 'संगी' का भी उल्लेख है) गीतों के बीच में कथा का सूत्र कायम रखते थे; उनका आशय समझाते चलते थे और बीच-बीच में विविध टिप्पणियाँ भी करते जाते थे। बाद के मैथिल नाटकों में सूत्रधार के स्थान पर "तटस्थ" कहलाने वाले पात्रों का प्रयोग हुआ। इस तरह "साहित्यिक" और साधन-सम्पन्न रंगमंच का रूप लोक-रंगमंच के रूप में बदलता गया। (६) इन नाटकों में ऐसी परिस्थितियों का प्रायः आरोपण किया जाता था जिनमें लोक-जीवन में प्रचलित रीति-रिवाजों और उत्सवों को प्रदर्शित किया जा सके। यों रंगमंच मिथिला के सामाजिक जीवन का एक प्राणवान अंग बन गया। (७) संगीत इस रंगमंच और नाटकों का प्राण था; 'आर्केस्ट्रा' इसका आवश्यक अंग था और क्या लेखक, क्या सूत्रधार, क्या अभिनेता सभी को संगीत-विशारद होना अनिवार्य था, वस्तुतः कीर्तनिया नाटक और पाश्चात्य 'ओपरा' में यदि कोई अन्तर था तो यही कि कीर्तनिया नाटक का काव्य साहित्यिक मापदण्ड से भी उच्चकोटि का उतरता है; नहीं तो दोनों की रूपरेखा एक ही-सी है।

× × ×

१६ वीं सदी में भारतेन्दु के नेतृत्व में जो हिन्दी-नाटक और रंगमंच का पुनर्संगठन हुआ उस पर सीधा प्रभाव तो वैष्णव-रंगमंच की इन दोनों शाखाओं ने शायद कुछ नहीं डाला; भारतेन्दु ने शायद मैथिली नाटकों को देखा भी नहीं था, और रामलीला एवं रासधारी लीलाओं के तत्कालीन रूप को उन्होंने भद्दा और कला विहीन पाया होगा। परन्तु भारतेन्दु को बंगला-रंगमंच और नाटक से बहुत-कुछ प्रेरणा मिली और उनके रूपान्तरित नाटकों में सर्वप्रथम 'विद्यासुन्दर' (सन् १८६८) इसी नाम के बंगला-नाटक का छायानुवाद था। 'विद्यासुन्दर' की कथा पर सन् १७२० में ही नेपाल के भूपतीन्द्रमल्ल ने 'विद्या-विलाप' नामक नाटक की रचना की और बाद में बंगाली "जात्राओं में" यह एक अत्यन्त लोकप्रिय कथानक हो गया। "जात्राएँ" कीर्तनिया नाटकों का ही लोकपक्षीय और बहुत-कुछ भ्रष्ट रूप थीं, और जात्रा-रंगमंच का बहुत व्यापक और गहरा प्रभाव बंगाली रंगमंच और नाट्य रचना पर पड़ा। 'सत्यहरिश्चन्द्र' भी एक बंगला-नाटक का छायानुवाद है और हम ऊपर देख चुके हैं कि सन् १६५१ ही में मैथिली में 'हरिश्चन्द्र नाट्यम्' की रचना हो चुकी थी। भारतेन्दु ने वैष्णव-नाट्य-शैली की एक और महत्त्वपूर्ण विशेषता को अपनाया; उन्होंने अंकों और दृश्यों के बीच-बीच में राग-रागिनियों में ढले हुए गीतों को स्थान दिया। 'मुद्राराक्षस' के उपसंहार में ऐसे गीतों का संग्रह दिया हुआ है। गीतों की इस मनोहर परम्परा को परवर्ती नाटककारों ने त्यागकर हिन्दी नाट्य-शैली को नीरस और रंगमंच को लोक-रुचि से दूर कर दिया।

भारतेन्दु ने अपने साहित्यिक जीवन के केवल १८ वर्षों में (१८६७ से १८८५ तक) हिन्दी-नाटक को पुनः साहित्यिक क्षेत्र में प्रतिष्ठित किया, विभिन्न नाट्य-शैलियों का समन्वय किया और अव्यावसायिक यानी 'एमेचर' रंगमंच की नींव डाली। भारतेन्दु के नाटकों की रूप-रेखा संस्कृत-नाटकों की अनुगामिनी थी, यद्यपि वस्तु-विषय के चुनाव में उन्होंने आधुनिक रुचि का परिचय दिया है, और अनुवाद भी उन नाटकों का किया जिनमें तत्कालीन सामाजिक और

राजनीतिक परिस्थिति से कुछ साम्य दिखाया जा सके। 'भारत-दुर्दशा'-जैसे आधुनिक समस्याओं के नाटक पर भी संस्कृत के 'प्रबोध-चन्द्रोदय' नाटक की शैली की स्पष्ट छाप है। उनकी अपूर्ण नाटिका 'प्रेम जोगिनी' में आधुनिक यथातथ्यवादी (Realistic) नाट्य-शैली के बीज विद्यमान हैं, 'भारत जननी' और अन्य नाटकों में भी उगती हुई राष्ट्रीय भावनाओं की झाँकी मिलती है, जो परवर्ती नाटककारों की प्रमुख प्रेरणा बनी।

नाट्य-रचना की एक समन्वित शैली की स्थापना करने के अतिरिक्त भारतेन्दु ने दो बड़े काम किये, पहला तो उन्होंने अपने प्रभाव से नाट्यकारों का एक दल बना लिया, उनके इन मित्रों, शिष्यों और सम्बन्धियों द्वारा हिन्दी में नाटक-लेखन की परिपाटी चल निकली। इस भारतेन्दु-स्कूल के नाटककारों में मुख्य ये थे :—'सीता-हरण' के लेखक देवकीनन्दन त्रिपाठी, 'कृष्ण-सुदामा' के रचयिता शिवनन्दनसहाय, 'रुक्मिणी परिणय' के लेखक अयोध्यासिंह उपाध्याय, 'श्रीदामा' और 'अमरसिंह राठौर' के लेखक राधाचरण गोस्वामी, 'दमयन्ती स्वयंवर' और 'वेणु-संहार' के लेखक बालकृष्ण भट्ट, 'रणधीर, प्रेममोहिनी' के रचयिता लाला श्रीनिवासदास, 'दुखिनी बाला' और 'महाराणा प्रताप' के लेखक राधाकृष्णदास, 'मयंक-मंजरी' और 'नाट्यसम्भव' के रचयिता किशोरीलाल गोस्वामी इत्यादि-इत्यादि। इनमें से किसी में भारतेन्दु की प्रतिभा तो नहीं थी; राष्ट्रीय भावना और उपेक्षात्मक प्रवृत्ति प्रबल थी; फिर भी 'रणधीर, प्रेममोहिनी'-जैसे नाटकों में शृङ्गार रस का मार्मिक निरूपण मिलता है। आश्चर्य की बात यह है कि भारतेन्दु के देहान्त के बाद धीरे-धीरे इनमें से अधिकतर लेखक नाटक के क्षेत्र से हटकर कवि या उपन्यासकार बनकर रह गए। इसका एक कारण तो यह था कि खड़ी बोली में कविता और उपन्यास दोनों नवीन क्षेत्र थे जिनकी ओर प्रतिभावान् साहित्यिकों का आकर्षित होना स्वाभाविक था। दूसरे भारतेन्दु की भाँति इन सभी लेखकों का रंगमंच से सीधा सम्पर्क स्थापित नहीं हो पाया। जो भारतेन्दु द्वारा चलाए हुए रंगमंच के निकट थे वे नाटक के सम्मोहन से दूर नहीं भटके।

यह अव्यावसायिक रंगमंच भारतेन्दु की हिन्दी को एक अनूठी देन है, और इसका जन्म व्यावसायिक पारसी-रंगमंच के उत्तर-स्वरूप हुआ था। पारसी-रंगमंच अमानत के 'इन्दर सभा' वाली परिपाटी का उत्कर्ष था। यद्यपि 'इन्दर सभा' में उर्दू के प्रेम-काव्य और गीत-प्रणाली पर कुछ भारतीयता की छाप थी, मूलतः वह रंगमंच यूरोप की 'ऑपरा' शैली से प्रभावित था। पारसी-रंगमंच तो बिलकुल ही छिछले पाश्चात्य 'फैशन' की नकल में आयोजित किया गया; उसने यूरोपीय रंगमंच से केवल उसकी ऊपरी छटा ग्रहण की, आत्मा नहीं। सन् १८७० के आस-पास पेस्टनजी फ्रामजी ने 'ओरिजिनल थियेट्रिकल कम्पनी' की स्थापना की; १८७७ में खुरशीदजी बल्लीवाला ने दिल्ली में 'विक्टोरिया थियेट्रिकल कम्पनी' खोली, जिसे एक बार वे विलायत भी ले गए। कावसजी खटाऊ ने 'एल्फ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी' भी इन्हीं दिनों खोली। उसके बाद तो एक के बाद एक 'न्यू एल्फ्रेड कं०', 'ओल्ड पारसी थियेट्रिकल कम्पनी', 'एलेक्जेंड्रिया कम्पनी', 'कोरिंथियन कम्पनी' इत्यादि अनेक व्यावसायिक मंडलियाँ खुलीं और कलकत्ता, बम्बई और उत्तर-भारत के बड़े नगरों में उनका बोल-बाला १६२५ ई० के आस-पास तक चलता रहा। पारसी-थियेट्रिकल कम्पनियों का प्रचार क्यों इतनी तेजी से हुआ, इसका एक प्रधान कारण यह था कि देश के जिस भाग में ये नाटक दिखाये गए वहाँ शताब्दियों के बाद एक रंगमंच जनता के सम्मुख आया; और कोई रंगमंच वहाँ था ही नहीं; सदियों की दबी हुई तृष्णा को जगाकर भूखे

रंगमंच ने उससे लाभ उठाया। यह ध्यान देने योग्य विषय है कि मिथिला, उड़ीसा, आसाम इत्यादि प्रदेशों में जहाँ एक रंगमंच पहले से मौजूद था, पारसी-रंगमंच हाथ-पैर नहीं फैला सका।

इसीलिए भारतेन्दु ने जन-साधारण की रंगमंच की तृष्णा को तृप्त करने के लिए पारसी-कम्पनी के जवाब में अव्यावसायिक मंडलियों की स्थापना की। किन्तु अव्यावसायिक रंग-मंच, व्यावसायिक रंगमंच से लोहा ले ही नहीं सकता। यदि उस समय उत्तरी भारत में भारतेन्दु को ऐसे सेठ मिल जाते जो रंगमंच के लिए कुछ रुपया लगा पाते तो शायद आज हिन्दी-रंगमंच का इतिहास भिन्न होता। फिर भी अव्यावसायिक अभिनयों की चाल शुरू करके भारतेन्दु ने साहित्यिक नाटकों के लिए प्रयोगशालाएँ उपस्थित कर दीं और इन प्रयोगशालाओं के सहारे ही अब तक हिन्दी-नाटक अपना अस्तित्व बचा सका है, भारतेन्दु के बाद १८२८ के आस-पास कानपुर में एक उत्साही नाटक-मंडली स्थापित हुई, प्रयाग में पं० माधव शुक्ल और उनके सहयोगियों के उद्योग से पहले 'श्रीरामलीला नाटक-मंडली' (१८९८ ई०) और बाद में 'हिन्दी-नाट्य-समिति' (१९०८) का जन्म हुआ। इन मंडलियों द्वारा 'सीयस्वयंवर', 'महाराणा प्रताप' और 'महाभारत' पूर्वार्द्ध-जैसे नाटक अभिनीत हुए। काशी में १९०१ में भारतेन्दु के घराने के बृजचन्द जी और अन्य व्यक्तियों के उद्योग से 'भारतेन्दु-नाटक मण्डली' और 'काशी-नागरी-नाटक-मण्डली' की स्थापना हुई। ये मण्डलियाँ १९७६ तक गतिशील रहीं और न सिर्फ भारतेन्दु के रूपकों बल्कि और भी नाटकों का (जिनमें पौराणिक नाटकों की प्रधानता थी) अभिनय इनके द्वारा हुआ। कलकत्ता में 'हिन्दी-नाट्य-परिषद्' के नाम से पं० माधव शुक्ल ने एक और अव्यावसायिक मण्डली स्थापित की जिसने बरसों तक अनेक नाटक खेलकर ख्याति प्राप्त की। इन अव्यावसायिक मण्डलियों पर भारतेन्दु की रंगमंच-शैली की छाप बराबर रही। परदे और मंच-विधान तो पारसी ढंग पर ही रहे थे, किन्तु चमत्कारपूर्ण दृश्यों के प्रदर्शन पर इतना जोर नहीं दिया जाता था जितना भाषा की शुद्धता, सुरुचिपूर्ण गीतों और आदर्शोन्मुखता पर। इन अभिनयों में अनेक सम्भ्रान्त व्यक्ति भाग लिया करते थे। आश्चर्य का विषय है कि अव्यावसायिक रंगमंच का यह रूप १९२५ के बाद से बदलने लगा; सयाने व्यक्तियों ने नाटकों में हिस्सा लेना छोड़ दिया और अव्यावसायिक रंगमंच धीरे-धीरे छात्रों का क्षेत्र समझा जाने लगा इस परिवर्तन के फल-स्वरूप आगे चलकर यह रंगमंच अधिक प्रयोगशीलता और 'बुद्धिवादिता' की ओर झुका।

सन् १९२०-२५ तक पारसी-रंगमंच और भारतेन्दु-परम्परा के अव्यावसायिक रंगमंच के लिए जिन लेखकों ने नाटक तैयार किये उन्हें दो स्पष्ट वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। पारसी-रंगमंच के लिए लिखने वालों की श्रेणी में आगा हश्र काश्मीरी, पं० राधेश्याम, नारायणप्रसाद 'बेताब', तुलसीदत्त 'शैदा' और हरिकृष्ण 'जौहर' के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। भाषा इनकी हिन्दुस्तानी होती थी; गद्य वार्तालाप के साथ फड़कते हुए शेर अनिवार्य थे; उत्तेजनापूर्ण वाक्य और चमत्कारपूर्ण दृश्य तथा मुख्य कथानक के बीच में प्रहसन इन नाटककारों के विशेष गुण थे। इस शैली के नाटक में कदाचित् सबसे अधिक सफल राधेश्याम पाठक के 'वीर अभिमन्यु' को माना जा सकता है, क्योंकि उसकी भावुकता की तह में लेखक की सच्ची अनुभूति का आभास होता है। दूसरे वर्ग के लेखकों को भारतेन्दु-शैली के ही अन्तर्गत माना जा सकता है, क्योंकि उनकी कृतियों में उन्हीं गुणों का विकास मिलता है जिनकी झाँकी भारतेन्दु और उनके समकालीन

नाटककारों के नाटकों में मिल चुकी है। 'कुरु-वन-दहन' और 'चुंगी की उम्मीदवारी' इत्यादि के लेखक बद्रीनाथ भट्ट इस वर्ग के प्रमुख लेखक थे। पं० माधव शुक्ल इस परिपाटी के मान्य ही थे, यद्यपि नाटक उन्होंने दो ही लिखे—'सीय स्वयंवर' और 'महाभारत' (पूर्वार्द्ध)। आनन्दप्रसाद खत्री, जमनादास मेहरा, दुर्गाप्रसाद गुप्त और हरिदास माणिक के नाम भी उल्लेखनीय हैं। इस श्रेणी के नाटकों में सर्वोत्कृष्ट पं० माखनलाल चतुर्वेदी-विरचित 'कृष्णार्जुन-युद्ध' को माना जायगा, क्योंकि इसमें तत्कालीन रंगमंचीय विधान का पूरा-पूरा ध्यान रखते हुए भी साहित्यिक परम्परा का पूर्ण-रूपेण निर्वाह हुआ है।

× × ×

यह थी वह ऐतिहासिक पृष्ठभूमि जिसके धूमिल और अस्पष्ट होते हुए पटल पर जयशंकर 'प्रसाद' बिजली की तरह कौंधकर अन्तर्हित हो गए। क्या हिन्दी नाटक और रंगमंच की परम्परा से उनका कोई भी सम्बन्ध था? अपने समकालीन रंगमंच की उन्होंने अवहेलना की, यह तो स्पष्ट है ही। भारतेन्दु-युग के नाटककारों ने नाट्य-रचना की जो परिपाटी स्थापित की थी वह प्रसादजी को स्वीकार्य न थी। 'चन्द्रगुप्त' और 'मुद्राराक्षस' की तुलना से यह वैषम्य साफ ही दृष्टिगत होता है। किन्तु गहराई से देखने पर जान पड़ेगा कि 'प्रसाद' ने भारतेन्दु-युग *की तीन मूल्यवान परम्पराओं—राष्ट्रीय भावना, आदर्शोन्मुखता और जीवन के प्रति मंगलमय* दृष्टिकोण—को स्थूल अभिव्यंजना के क्षेत्र से निकालकर सूक्ष्म और सांकेतिक रूपरेखा प्रदान की। यह सांकेतिक व्यंजना छायावादी युग की विशेषता थी और 'प्रसाद' के नाटकों में इसके द्वारा परम्परागत भावनाएँ नई सुरभि, नये उन्माद के साथ उच्छ्वसित हुईं। किन्तु फिर भी यह मानना ही होगा कि शायद रंगमंच के उत्तरदायित्वपूर्ण बन्धनों से मुक्त होने के कारण 'प्रसाद' ने साहस और स्वच्छन्दता के साथ कतिपय बिलकुल नवीन प्रयोग किये। प्रथम तो उनकी भाषा का स्तर उनसे पूर्ववर्ती नाटककारों की भाषा से बिलकुल भिन्न है; उनकी आभिजात्य और गम्भीर भाषा के आगे हरिश्चन्द्री हिन्दी भी चलताऊ जान पड़ती है। दूसरे उनके पात्रों का अन्तर्द्वन्द्व हिन्दी-नाट्य-रचना में एक अभूतपूर्व प्रयोग था। तीसरे, उनके पात्र कथानक की तात्कालिक समस्याओं का विश्लेषण करते-करते मानव-जीवन की मौलिक समस्याओं का जो विवेचन करते हैं, गम्भीर चिन्तन में जिस तरह उतराते-से जान पड़ते हैं वह भी हिन्दी-नाटक के लिए एक नूतन अनुभूति थी। इन तीन मौलिक प्रयोगों का परिणाम यह है कि 'प्रसाद' एक नये प्रकार की नाट्य-शैली के प्रतिपादक हो गए—वातावरण-प्रधान नाट्य-शैली, शायद सशक्त, सजीव और गतिशील वातावरण के द्वारा 'प्रसाद' अपने नाटकों की रंगमंच के लिए अनुपयुक्तता की कमी को पूरा कर लेते हैं; जहाँ वातावरण ही कल्पना को इतना उत्तेजित कर सके कि वह रंगमंच की सहायता के बिना ही अभीष्ट लोक का सृजन कर ले, वहाँ रंगमंच के बिना भी काम चल सकता है।

१९२० और १९३३ के बीच 'प्रसाद' के लगभग सभी उच्च कोटि के नाटक लिखे गए।[1] क्या इन नाटकों ने हिन्दी-नाट्य-रचना के विकास पर कोई प्रभाव डाला? तुरन्त तो नहीं। किन्तु मैं श्री सोमनाथ गुप्त के इस कथन से सहमत नहीं हूँ कि "प्रसाद की रचनाओं का व्यापक प्रभाव किसी लेखक पर नहीं दिखाई देता।" मैं तो समझता हूँ कि वर्तमान पीढ़ी के

---

1. विशाख (१९२१) अजातशत्रु (१९२२), जन्मेजय का नागयज्ञ (१९२६), स्कन्दगुप्त (१९२८), चन्द्रगुप्त (१९३१), एक घूँट (१९२९-३०) ध्रुवस्वामिनी (१९३३)।

नाटककारों में बहुत कम ऐसे हैं जो 'प्रसाद' के प्रभाव से अछूते रह पाए। सबसे अधिक आश्चर्य तो मुझे हुआ, हाल ही में 'वत्सराज' नामक नाटक को देखकर, जो प्रसिद्ध बुद्धिवादी और यथा-तथ्यवादी लेखक श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र की नई कृति है। मिश्रजी ने तो प्रसाद की वातावरण-प्रधान भावुक, आदर्शवादी शैली की प्रतिक्रिया-स्वरूप १६३३ में ही कुछ नवीन प्रयोग किये, लेकिन आज वे भी इसी ओर मुक रहे हैं। 'प्रसाद' के जीवन-काल में ही हरिकृष्ण 'प्रेमी', जगन्नाथप्रसाद 'मिलिन्द', गोविन्दवल्लभ पन्त और उदयशंकर भट्ट ने उसी शैली में कई रचनाएँ प्रस्तुत कीं। इनमें से किसी को भी निश्चयपूर्वक 'प्रसाद' का अविकल उत्तराधिकारी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि द्विजेन्द्रलाल राय का भी प्रभाव इन लेखकों की रचनाओं पर साफ लक्षित होता है। भट्टजी के 'विद्रोहिणी अम्बा', 'सगर-विजय', 'मत्स्यगन्धा' और 'विश्वामित्र' नाटकों में पौराणिक युग का वातावरण सफलतापूर्वक उतारा गया है; 'आदिम युग' में वे मानव-सभ्यता की कुछ मौलिक समस्याओं की ओर आकृष्ट हुए हैं। हरिकृष्ण 'प्रेमी' ने 'स्वप्नभंग', 'रक्षा-बन्धन', 'शिवा-साधना' इत्यादि नाटकों में मध्य युग के भारतीय इतिहास की, विशाल हृदय होकर और मानवतावादी दृष्टिकोण से झाँकियाँ ली हैं। गोविन्दवल्लभ पन्त ('वरमाला' और 'राजमुकुट') में उतनी गह-राई तो नहीं है जितनी अन्य तीन नाटककारों में, किन्तु रंगमंच से पूर्णतया परिचित होने के कारण वे ही 'प्रसाद' से प्राप्त वायव्य प्रेरणा को, रंगमंच की धरती पर, सफलता पूर्वक अवतारणा कर सके। सन् १६४२-४३ के बाद से पुनः सहसा प्रसाद की आदर्श-सम्पृक्त, मानवतावादी और वातावरण-प्रधान शैली की लहर-सी आई है। रामकुमार वर्मा की 'चारुमित्रा' और 'ध्रुवतारिका' बेनीपुरी की 'अम्बपाली', 'संघमित्रा' और 'नेत्रदान', पृथ्वीनाथ शर्मा का 'उर्मिला', डॉ० कैलाशनाथ भटनागर की 'चाणक्य-प्रतिज्ञा' और 'श्रीवत्स', रानी शिवकुमारी देवी का 'चन्द्रगुप्त', और 'उमादे', कंचनलता सब्बरवाल की 'अमिया' और 'आदित्यसेन गुप्त', सीताराम चतुर्वेदी का 'सेनापति पुष्यमित्र' और सद्गुरुशरण अवस्थी के विविध ऐतिहासिक रूपक इसी विशाल तरंग की ललित लहरियाँ हैं। प्रसाद के इस नूतन अभिवादन का विशेष कारण समझ में नहीं आता; शायद कालेजों के अध्यापकों और छात्रों का आज दिन हिन्दी-नाटक के नाम पर केवल प्रसाद के नाटकों से सम्पर्क होता है, और वे ही उनके सृजनात्मक प्रयासों की मूल प्रेरणा हो पाते हैं।

किन्तु जैसा मैं ऊपर लिख चुका हूँ प्रसाद की परम्परा जमने भी न पाई थी कि उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया प्रारम्भ हो गई। यह प्रतिक्रिया युग और परिस्थितियों की माँग थी। प्रसाद ने कोई रंगमंच तो बनाया नहीं था; पारसी-रंगमंच की मलिन होती हुई आभा सन् '३० के आस-पास सिनेमा की चकाचौंध करने वाली रजत रश्मियों में अपना अस्तित्व खो बैठीः हिन्दी का वह लड़खड़ाता हुआ व्यावसायिक रंगमंच मानो आधुनिकता के स्पर्श-मात्र से ढह गया, लेकिन उसका कल्याणकर परिणाम यह हुआ कि प्रारम्भिक फिल्मों ने (न्यू थियेटर्स और बाम्बे टाकीज) सामाजिक जीवन के यथातथ्य (Realistic) प्रदर्शन को रंगमंच के योग्य सामग्री साबित कर दिया। भारतेन्दु-परम्परा के अव्यावसायिक रंगमंच पर इसका प्रभाव पड़े बिना न रह सका; कालिजों की नाट्य-मंडलियों ने समझा कि जीवन का यथातथ्य प्रदर्शन, स्वाभाविक ढंग का वार्ता-लाप, दैनिक अनुभव के क्रिया-कलाप—सभी रंगमंच के दायरे में आ सकते हैं। लेखकों को इस प्रवृत्ति की ओर एक और परिस्थिति ने प्रेरित किया। छायावाद के प्रथम उल्लास के बाद पाश्चात्य रोमांटिक साहित्य से उकताकर हिन्दी-लेखक इब्सन, शॉ, चेखव इत्यादि के सम्मोहन में आये

और बाद में समसामयिक नाट्य-साहित्य में भी दिलचस्पी लेने लगे, तीसरा कारण था भारतीय राजनीति में कोरी राष्ट्रीयता के स्थान पर सामाजिक और आर्थिक समस्याओं पर गम्भीर चिन्तन की प्रवृत्ति। यही प्रवृत्ति आगे चलकर साम्यवाद से अनुप्राणित होकर प्रगतिशीलता के चोले में सामने आई। चौथा कारण था फ्रायड के मनोविश्लेषण-विज्ञान और यौन-विज्ञान में पढ़े-लिखे नवयुवकों की दिलचस्पी, जिसने युग-युगान्तर से नाट्य-साहित्य की धरोहर—प्रेम-कथानक—को बिलकुल नया रूप दे दिया। पाँचवाँ कारण था नाटक के क्षेत्र में छोटी कहानी के समान छोटे नाटक—एकांकी की माँग। यद्यपि भारतीय साहित्य में एकांकी पहले भी लिखे जा चुके थे, और हिन्दी में तो भारतेन्दु को ही प्रथम एकांकीकार माना जा सकता है, तथापि, हमारे आधुनिक एकांकी की प्रेरणा हमें पाश्चात्य साहित्य से ही मिली है। एकांकी को अव्यावसायिक रंगमंच ने खुले हाथों अपनाया, क्योंकि इनमें अभिनय के लिए कम-से-कम साधनों की आवश्यकता होती है।

इन परिस्थितियों के फलस्वरूप १६३० के आस-पास एक नई शैली के नाटकों की उद्‌भावना हुई। जीवन का यथातथ्य प्रदर्शन सामाजिक समस्याओं के मूल में व्यक्ति की मानसिक गुत्थियों का विश्लेषण और उससे आदर्शवाद की उपेक्षा इन नाटकों की विशेषताएँ मानी जा सकती हैं। शायद इस शैली का सर्वप्रथम नाटक कृपानाथ मिश्र का 'मणिगोस्वामी' (१६२६) था, जिसे अभी तक आधुनिक साहित्य में समुचित स्थान नहीं मिला है, उसके बाद लक्ष्मीनारायण मिश्र के 'सिन्दूर की होली', 'संन्यासी', 'राक्षस का मन्दिर', 'मुक्ति का रहस्य' आदि नाटक परम्पराओं को चुनौती देते हुए आये; रूढ़ि-ग्रस्त विचारों को चुनौती देना तो कलाकार का 'मिशन' ही है, किन्तु रंगमंच की आवश्यकताओं की अवहेलना मिश्रजी की रचना-शैली के लिए श्रेयस्कर नहीं हुई। रामकुमार वर्मा ने अपने एकांकियों में और उपेन्द्रनाथ 'अश्क' ने न सिर्फ एकांकियों में बल्कि 'क़ैद और उड़ान', 'छठा बेटा', और 'आदिमार्ग'-जैसे बड़े नाटकों में भी यथातथ्यवादी विचार-प्रधान शैली का रंगमंच की गतिशीलता और रस-पिपासा से समन्वय स्थापित किया। अश्क का शिल्प-विधान श्रम-साध्य और नपा-तुला होते हुए भी जीवन की खण्डित और प्रच्छन्न अनुभूतियों की भाँति ही सांकेतिक होता है। व्यक्ति और समाज के आगे ऐसा विकारहीन किन्तु व्यंजनाशील दर्पण अन्य किसी यथातथ्यवादी हिन्दी-नाटककार ने नहीं रखा। सेठ गोविन्ददास जी के नाटक स्थूल रूप से समस्यामूलक हैं; कला पक्ष उनका क्षीण है, रंगमंच के प्रति वे उदासीन हैं; और उनके पात्र क्रमशः "टाइप्स" होते चले जा रहे हैं, पहचाने जा सकने वाले व्यक्ति नहीं बल्कि विचार-धारा अथवा वर्ग के मूर्तमान स्वरूप! वृन्दावनलाल वर्मा के सद्यःप्रकाशित नाटकों में भी अर्वाचीन समस्याओं पर प्रकाश डाला गया है किन्तु जब तक वह प्रकाश नाटक के पात्रों में से ही उद्‌भूत होता हुआ न मालूम दे तब तक इन रचनाओं को नाटक की संज्ञा देते हुए संकोच होता है। हाल ही में बीकानेर के शम्भूदयाल सक्सेना की 'सगाई' पढ़कर आभास हुआ मानो हिन्दी-नाट्य-माला में एक नया मोती गुँथा हो, इस नाटिका में समस्या का उद्‌घाटन होता है, वक्तृताओं के द्वारा नहीं बल्कि पात्रों के आचरण के द्वारा। सन् १६३४ में जब विचारमूलक नाटकों का हिन्दी में श्रीगणेश हो ही रहा था, तब श्री सुमित्रानन्दन पन्त का गीति-नाट्य 'ज्योत्स्ना' प्रकाशित हुआ, 'ज्योत्स्ना'-जैसे अभूतपूर्व साहित्यिक प्रयोग को किसी वर्ग अथवा प्रवृत्ति के अन्तर्गत मानना कवि की प्रतिभा के प्रति अन्याय करना होगा, किन्तु नाट्य-रचना के इतिहास में 'ज्योत्स्ना' की महत्ता इसलिए है कि

उसमें हम गीति-प्रधान रसानुवर्तिनी, काव्यात्मक नाट्य-शैली, (जिसकी जड़ भारतेन्दु और उनसे भी पहले वैष्णव नाटकों तक फैली हुई हैं) प्रतीकात्मक रूपक-विधान, (जिसका सर्वप्रथम उदाहरण संस्कृत में 'प्रबोध-चन्द्रोदय' नाटक है) और विचारशीलता एवं सभ्यता और संस्कृति के मूल तत्त्वों की खोज से अनुप्राणित आधुनिक नाट्य-शैली का मनोरम और साहसपूर्ण समन्वय पाते हैं।

× × ×

सन् '४५ के बाद हिन्दी-रंगमंच के इतिहास में दो महत्त्वपूर्ण दिशाओं में विकास हुआ है। एक तो भारतेन्दु द्वारा प्रवर्तित अव्यावसायिक रंगमंच का एकांकियों के मध्यम से 'साहित्यिक' नाटक से पुनः सम्बन्ध स्थापित होना और दूसरे पृथ्वीराज कपूर द्वारा बम्बई में आर्थिक घाटा सहते हुए भी एक सुरुचिपूर्ण और नवसंदेशवाहक व्यावसायिक रंगमंच की स्थापना। हिन्दी में आधुनिक एकांकी की महत्ता इसीलिए मानी जायगी कि वह एक परिवर्तनशील रंगमंच की माँग को पूरा करने के लिए रचा गया और उस रंगमंच को पुनर्जीवित करने में उसका बहुत बड़ा हाथ रहा है। पृथ्वीराज कपूर ने जो बीड़ा उठाया है उसे यदि हिन्दी-लेखक आह्वान के रूप में समझें तो उनका आयोजन युगान्तरकारी आन्दोलन बन सकता है। एक प्रतिभाशाली अभिनेता होने के कारण पृथ्वीराज अपने नाटकों ("पठान' और 'आहुति' इत्यादि) के कुछ दोषों (यथा 'कलाकार' के अन्तिम अंक की सस्ती भावुकता) की छान-बीन करने में असमर्थ जान पड़ते हैं, साथ ही हिन्दी-साहित्य और प्राचीन भारतीय संस्कृति के प्रति उनकी उदासीनता (और अज्ञान !) उनमें नाट्य-चयन को अत्यन्त सीमित कर देती है। फिर भी अगला कदम तो हिन्दी के साहित्यकारों को ही उठाना है।

रेडियो-नाटक की ब्यौरेवार चर्चा यहाँ अप्रासंगिक होगी, क्योंकि उसके वाच्य 'मंच' का अभी तो हमारे रंगमंच से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। लेकिन यह तो स्पष्ट है कि हिन्दी नाट्य-रचना पर रेडियो का अत्यन्त व्यापक और गहरा प्रभाव पड़ रहा है। अनेक नये लेखक रेडियो ही के कारण नाट्य-रचना की ओर प्रेरित हुए। प्राचीन नाटकों के सूत्रधार की पुनः अवतारणा वाचक और वाचिका के रूप में हो रही है। वैष्णव-रंगमंच की भाँति रेडियो-नाटक में भी सांगीतिकता का प्रचुर समावेश हुआ है। जान पड़ता है रेडियो के प्रभाव से हिन्दी में पुनः गीति-नाट्य की प्रतिष्ठा हो रही है।

इसी में हमें भविष्य के संकेत मिलते हैं, इतिहास और परम्परा की उपेक्षा करके भविष्य का निर्माण नहीं हो सकता। मैंने अन्य निबन्धों में भावी हिन्दी-रंगमंच और नाटक की रूपरेखा पर अपने कुछ सुझाव दिये हैं। यहाँ उनका पुनः उल्लेख आवश्यक होगा, किन्तु मननशील पाठक समकालीन प्रवृत्तियों और परिस्थितियों में एक काव्यात्मक और लोक-संग्रही रंगमच के बीज देखेंगे ऐसी मेरी धारणा है। फिर भी एक ही प्रकार के रंगमंच का भारतवर्ष में सर्वमान्य होना असम्भव है और अनुचित भी। एलर्डाइस निकल के शब्दों में सजीव रंगमंच के लिए एक भौगोलिक केन्द्र, यथोचित स्वच्छन्दता, जन-साधारण और बुद्धिजीवियों दोनों ही से समर्थन, व्यावसायिक नाटककार ;के लिए सहारे का प्रबन्ध, और युग-परिस्थितियों के अनुकूल रंगमंच-विधान—इन अवयवों की आवश्यकता होती है। स्पष्ट है कि भारतवर्ष-जैसे विशाल देश में इन अवयवों के रूप भी अनेक होंगे और इसलिए रंगमंच और नाट्य-रचना-शैली के विधान भी बहुमुखी।

डॉक्टर रामरतन भटनागर

हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं का विकास

भारतवर्ष में आधुनिक ढंग की पत्रकारिता का जन्म अठारवीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश में कलकत्ता, बम्बई और मद्रास में हुआ। ये तीनों नगर नवस्थापित अंग्रेज़ी शासन के केन्द्र थे और इनमें धीरे-धीरे छोटे-छोटे अंग्रेज़ी उपनिवेश विकसित हो गए थे। १७८० ई० में प्रकाशित हिके (Hickey) का 'कलकत्ता गजेट' कदाचित् इस ओर पहला प्रयत्न था। हिन्दी के पहले पत्र 'उदंत मार्तंड' (१८२६) के प्रकाशित होने तक इन नगरों की एंग्लो-इंडियन अंग्रेज़ी पत्रकारिता काफ़ी विकसित हो गई थी।

इन अन्तिम वर्षों में फ़ारसी भाषा में भी पत्रकारिता का जन्म हो चुका था। १८वीं शताब्दी के फारसी पत्र कदाचित् हस्तलिखित पत्र थे। १८०१ में 'Hindusthan Intelligence Oriental anthology' नाम का जो संकलन प्रकाशित हुआ उसमें उत्तर भारत के कितने ही 'अख़बारों' के उद्धरण थे। १८१० में मौलवी इकराम अली ने कलकत्ता से लिथो-पत्र 'हिन्दोस्तानी' प्रकाशित करना आरम्भ किया। १८१६ में गंगाकिशोर भट्टाचार्य ने 'बंगाल गजेट' का प्रवर्तन किया। यह पहला बंगला-पत्र था। बाद में श्रीरामपुर के पादरियों ने प्रसिद्ध प्रचार-पत्र 'समाचार-दर्पण' (२७ मई १८१८) को जन्म दिया। इन प्रारम्भिक पत्रों के बाद हमें बंगला भाषा के 'समाचार चन्द्रिका' (१८२१) और 'सम्वाद-कौमुदी' (१८२३), फ़ारसी उर्दू के 'जामे जहाँनुमा' (१८२३) और 'शम्सुल अख़बार' (१८२३) और गुजराती के मुम्बई समाचार' (१८२३) के दर्शन होते हैं।

यह स्पष्ट है कि हिन्दी-पत्रकारिता बहुत बाद की चीज़ नहीं है। दिल्ली का 'उर्दू अख़बार' (१८३३) और मराठी का 'दिग्दर्शन' (१८३७) हिन्दी के पहले पत्र 'उदंत मार्तंड' (१८२६) के बाद ही आए हैं। 'उदंत मार्तंड' के सम्पादक पंडित जुगलकिशोर थे। यह साप्ताहिक पत्र था। पत्र की भाषा पछाँही हिन्दी रहती थी, जिसे पत्र के सम्पादक ने 'मध्यदेशीय-भाषा' कहा है। प्रारम्भिक विज्ञप्ति इस प्रकार थी—"यह उदंत मार्तंड अब पहले-पहल हिन्दुस्तानियों के हित के हेत जो आज तक किसी ने नहीं चलाया पर अंग्रेजी औ पारसी औ बंगले में जो समाचार का कागज छपता है उसका सुख उन बोलियों के जानने औ पढ़ने वालों को ही होता है। इससे सत्य समाचार हिन्दुस्तानी लोग देखकर आप पढ़ औ समझ लेय औ पराई अपेक्षा न करें औ अपने भाषा की उपज न छोड़े, इसलिए बड़े दयावान करुणा और गुणीन के निधान सब के कल्यान के विषय गवरनर जेनेरेल बहादुर की आयस से ऐसे साहस में चित्त लगाय के एक प्रकार से यह नया ठाट ठाटा...।" यह पत्र १८२७ में बन्द हो गया। उन दिनों सरकारी सहायता के बिना किसी भी पत्र का चलना असम्भव था। कम्पनी-सरकार ने मिशनरियों के पत्र को डाक आदि की सुविधा दे रखी थी, परन्तु चेष्टा करने पर भी 'उदंत मार्तंड' को यह सुविधा

प्राप्त नहीं हो सकी। अन्तिम विज्ञप्ति से इस विषय में काफी प्रकाश पड़ता है—"इस उदंत-मार्तण्ड के नाव पढ़ने के पहिले पछाँहियों के चित्त का इस कागज न होने से हमारे मनोर्थ सफल होने का बड़ा उतसा था इसलिए लोग हमारे बिन कहे भी इस कागज की सही की बही पर सही करते गये, पै हमें पूछिये तो इनकी मायात्री दया से सरकार अँगरेज कम्पनी महा प्रतापी की कृपा कटाक्ष जैसे औरों पर पड़ी वैसे पड़ जाने की बड़ी आशा थी और मैंने इस विषय में उपाय यथोचित किया पै करम की रेख कौन मैंटे तिस पर भी सही की बही देख जी सुखी होता रहा अन्त में नटों कैसे आम दिखाई दिए इत हेत स्वारथ अकारथ जान निरे परमारथ को मान कहाँ तक बनजिए अब अपने व्यवसाई भाइयों से मन की बात बताय बिदा होते हैं। हमारे कहे सुने का कुछ मन में न लाइयो जो दैव और भूपर मेरी अन्तरव्यथा और इस पत्र के गुण को विचार सुध करेंगे तौ मेरे ही हैं। शुभमिति ॥"

१८२६ ई० से १८७३ ई० तक को हम हिन्दी-पत्रकारिता का पहला चरण कह सकते हैं। १८७३ ई० में भारतेन्दु ने 'हरिश्चन्द मैगजीन' की स्थापना की। एक वर्ष बाद में यह पत्र 'हरिश्चन्द-चन्द्रिका' नाम से प्रसिद्ध हुआ। वैसे भारतेन्दु का 'कवि-वचन-सुधा' पत्र १८६७ में ही सामने आ गया था और उसने पत्रकारिता के विकास में महत्त्वपूर्ण भाग लिया था; परन्तु नई भाषा-शैली का प्रवर्तन १८७३ में 'हरिश्चन्द मैग़जीन' से ही हुआ। इस बीच के अधिकांश पत्र प्रयोग-मात्र कहे जा सकते हैं और उनके पीछे पत्र-कला का ज्ञान अथवा नये विचारों के प्रचार की भावना नहीं है। 'उदंत मार्तण्ड' (१८२६) के बाद प्रमुख पत्र हैं : बंगदूत (१८२६), प्रजामित्र (१८३४), बनारसअख़ बार (१८४५), मार्तण्ड (पंच भाषीय, १८४६), 'ज्ञानदीप' (१८४६), मालवा अखबार (१८४६), जगद्दीपक भास्कर (१८४६), सुधाकर (१८५०), साम्यदंड मार्तण्ड (१८५०), मजाहरुलसरूर (१८५०), बुद्धिप्रकाश (१८५२), ग्वालियर गजेट (१८५३), समाचार सुधावर्षण (१८५४, दैनिक, कलकत्ता), प्रजाहितैषी (१८५५), सर्वहितकारक (१८५५), सूरजप्रकाश (१८६१), जगलाभ चिंतक (१८६१) सर्वोपकारक (१८६१), प्रजाहित (१८६१), लोकमित्र (१८६५), भारतखंडामृत (१८६४), तत्त्वबोधिनी पत्रिका (१८६५), ज्ञानप्रदायिनी पत्रिका (१८६६), सोमप्रकाश (१८६६), सत्यदीपक (१८६६) वृतांत विलास (१८६७), ज्ञानदीपक (१८६७), कविवचनसुधा (१८६७), धर्मप्रकाश (१८६७), विद्याविलास (१८६७), वृतांतदर्पण (१८६७), विद्यादर्श (१८६९), ब्रह्मज्ञान प्रकाश (१८६९), पापमोचन (१८६९), जगदानन्द (१८६९), जगतप्रकाश (१८६९), अलमोड़ा अखबार (१८७०), आगरा अख़बार (१८७०), बुद्धिविलास (१८७०), हिन्दू प्रकाश (१८७१), प्रयागदूत (१८७१), बुन्देलखंड अखबार (१८७१), प्रेमपत्र (१८७२) और बोधा समाचार (१८७२)। इन पत्रों में से अधिकांश मासिक थे, कुछ साप्ताहिक। दैनिक पत्र केवल एक था 'समाचार सुधावर्षण', जो द्विभाषीय (बँगला-हिन्दी) था, और कलकत्ते से प्रकाशित होता था। यह दैनिक पत्र १८७१ ई० तक चलता रहा। अधिकांश पत्र आगरे से प्रकाशित होते थे, जो उन दिनों एक बड़ा शिक्षा-केन्द्र था और विद्यार्थी-समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे। शेष ब्रह्म-समाज, सनातन धर्म और मिशनरियों के प्रचार-कार्य से सम्बन्धित थे। बहुत से पत्र द्विभाषीय (हिन्दी-उर्दू) थे और कुछ तो पंचभाषीय तक थे। इससे भी पत्रकारिता की अपरिपक्व दशा ही सूचित होती है। हिन्दी-प्रदेश के प्रारम्भिक पत्रों में 'बनारस अख़बार' (१८४५) काफी प्रभावशाली था और उसी की

भाषा-नीति के विरोध में १८५० में तारामोहन मैत्र ने काशी से साप्ताहिक 'सुधाकर' और १८५५ में राजा लक्ष्मणसिंह ने आगरा से 'प्रजाहितैषी' का प्रकाशन आरम्भ किया। राजा शिवप्रसाद का 'बनारस अखबार' उर्दू-भाषा-शैली को अपनाता तो ये दोनों पत्र पंडिताऊ तत्सम-प्रधान शैली की ओर झुकते थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि १८६७ से पहले भाषा-शैली के सम्बन्ध में हिन्दी-पत्रकार किसी निश्चित नीति का अनुसरण नहीं कर सके थे। इस वर्ष 'कवि-वचन-सुधा' प्रकाशित हुआ और एक तरह से उसे हम पहला महत्त्वपूर्ण पत्र कह सकते हैं। पहले यह मासिक था, फिर पाक्षिक हुआ और अन्त में साप्ताहिक। भारतेन्दु के बहुविध व्यक्तित्व का प्रकाशन इस पत्र के माध्यम से हुआ, परन्तु सच तो यह है कि 'हरिश्चन्द मैगज़ीन' के प्रकाशन (१८७३) तक वे भी भाषा-शैली और विचारों के क्षेत्र में मार्ग ही खोजते दिखलाई देते हैं।

हिन्दी-पत्रकारिता का दूसरा युग १८७३ से १६०० तक चलता है। इस युग के एक छोर पर भारतेन्दु का 'हरिश्चन्द मैगज़ीन' है और दूसरी ओर नागरी प्रचारिणी द्वारा अनुमोदन प्राप्त 'सरस्वती'। इन २७ वर्षों में प्रकाशित पत्रों की संख्या ३००—३५० से ऊपर है और ये नागपुर तक फैले हुए हैं। अधिकांश पत्र मासिक या साप्ताहिक हैं। मासिक पत्रों में निबंध, नवल कथा (उपन्यास), वार्ता इत्यादि के रूप में कुछ अधिक स्थायी सम्पत्ति रहती थी, परन्तु अधिकांश पत्र १०-१५ पृष्ठों से अधिक नहीं जाते और उन्हें हम आज के शब्दों में 'विचार-पत्र' ही कह सकते हैं। साप्ताहिक पत्रों में समाचारों और उन पर टिप्पणियों का भी महत्त्वपूर्ण स्थान था। वास्तव में दैनिक समाचार के प्रति उस समय विशेष आग्रह नहीं था और कदाचित् इसीलिए उन दिनों साप्ताहिक और मासिक पत्र कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण थे। उन्होंने जन-जागरण में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भाग लिया है।

उन्नीसवीं शताब्दी के इन २५ वर्षों का आदर्श भारतेन्दु की पत्रकारिता थी। 'कवि-वचन-सुधा' (१८६७), 'हरिश्चन्द मैगज़ीन' (१८७४), 'श्री हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका' (१८७४), 'बाला-बोधिनी'; 'स्त्रीजन की प्यारी' (१८७४) के रूप में भारतेन्दु ने इस दिशा में पथ-प्रदर्शन किया था। उनकी टीका-टिप्पणियों से अधिकारी तक घबराते थे और 'कवि-वचन-सुधा' के 'पंच' पर रुष्ट होकर काशी के मैजिस्ट्रेट ने भारतेन्दु के पत्रों को शिक्षा-विभाग के लिए लेना भी बन्द करा दिया था। इसमें सन्देह नहीं कि पत्रकारिता के क्षेत्र में भी भारतेन्दु पूर्णतया निर्भीक थे और उन्होंने नये-नये पत्रों के लिए प्रोत्साहन दिया। 'हिन्दी-प्रदीप', 'भारत जीवन' आदि अनेक पत्रों का नामकरण भी उन्होंने ही किया था। उनके युग के सभी पत्रकार उन्हें अग्रणी मानते थे।

भारतेन्दु के बाद इस क्षेत्र में जो पत्रकार आये उनमें प्रमुख हैं पण्डित रुद्रदत्त शर्मा (भारत-मित्र, १८७७), बालकृष्ण भट्ट (हिन्दी-प्रदीप, १८७७), दुर्गाप्रसाद मिश्र (उचित वक्ता, १८७८), पं० सदानन्द मिश्र (सार-सुधानिधि, १८७८), पण्डित वंशीधर (सज्जन कीर्ति सुधाकर, १८७८), बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' (आनन्द-कादम्बिनी, १८८१), देवकीनन्दन त्रिपाठी (प्रयाग-समाचार, १८८२), राधाचरण गोस्वामी (भारतेन्दु, १८८२), पण्डित गौरीदत्त (देवनागरी-प्रचारक, १८८२), राजा रामपालसिंह (हिन्दुस्तान, १८८३), प्रतापनारायण मिश्र (ब्राह्मण १८८३), अम्बिकादत्त व्यास (पीयूष-प्रवाह, १८८४), बाबू रामकृष्ण वर्मा (भारत-जीवन, १८८४), पं०रामगुलाम अवस्थी (शुभचिंतक, १८८८), योगेशचन्द्र वसु (हिन्दी बंगवासी, १८६०), पं० कुन्दनलाल (कवि व चित्रकार, १८६१), और बाबू देवकीनन्दन खत्री एवं बाबू

बालमुकुन्ददास (साहित्य-सुधानिधि, १८६४)। १८६५ ई० में 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' का प्रकाशन आरम्भ होता है। इस पत्रिका से गम्भीर साहित्य-समीक्षा का आरम्भ होता है और इसलिए हम इसे एक निश्चित प्रकाश-स्तम्भ मान सकते हैं। अगले ४-५ वर्षों में कोई महत्त्वपूर्ण पत्र हमें नहीं मिलता, परन्तु पिछले अनेक पत्र-पत्रकारिता को बराबर आगे बढ़ाते हैं। १६०० ई० में 'सरस्वती' और 'सुदर्शन' के अवतरण के साथ हिन्दी-पत्रकारिता के इस दूसरे युग पर पटाक्षेप हो जाता है।

इन २५ वर्षों में हमारी पत्रकारिता अनेक दिशाओं में विकसित हुई। प्रारम्भिक पत्र शिक्षा-प्रसार और धर्म-प्रचार तक सीमित थे। भारतेन्दु ने सामाजिक राजनैतिक, और साहित्यिक दिशाएँ भी विकसित कीं। उन्होंने ही 'बाला-बोधिनी' (१८७४) नाम से पहला स्त्री-मासिक-पत्र चलाया। कुछ वर्ष बाद हम महिलाओं को स्वयं इस क्षेत्र में उतरते देखते हैं : 'भारत-भगिनी' (हरदेवी, १८८८), 'सुगृहणी' (हेमन्तकुमारी, १८८६)। इन वर्षों में धर्म के क्षेत्र में आर्यसमाज और सनातनधर्म के प्रचारक विशेष क्रियाशील थे। ब्रह्मसमाज और राधास्वामी मत से सम्बन्धित कुछ पत्र और मिर्जापुर-जैसे ईसाई-केन्द्रों से कुछ ईसाई-धर्म-सम्बन्धी पत्र भी सामने आते हैं, परन्तु युग की धार्मिक प्रतिक्रियाओं को हम आर्य समाजी और सनातनी पत्रों में ही पाते हैं। आज ये पत्र कदाचित् उतने महत्त्वपूर्ण नहीं जान पड़ते, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने हमारी गद्य-शैली को पुष्ट किया और जनता में नये विचारों की ज्योति भरी। इन धार्मिक वाद-विवादों के फलस्वरूप समाज के विभिन्न वर्ग और सम्प्रदाय सुधार की ओर अग्रसर हुए और बहुत शीघ्र ही साम्प्रदायिक पत्रों की बाढ़ आ गई। सैकड़ों की संख्या में विभिन्न जातीय और वर्गीय पत्र प्रकाशित हुए और उन्होंने असंख्य जनों को वाणी दी।

आज वही पत्र हमारी इतिहास-चेतना में विशेष महत्त्वपूर्ण हैं जिन्होंने भाषा-शैली, साहित्य अथवा राजनीति के क्षेत्र में कोई अप्रतिम कार्य किया हो। साहित्यिक दृष्टि से हिन्दी-प्रदीप (१८७७), ब्राह्मण (१८८३), क्षत्रिय-पत्रिका (१८८०), आनन्द-कादम्बिनी (१८८१), भारतेन्दु (१८८२), देवनागरी प्रचारक (१८८२), वैष्णव पत्रिका (पश्चात् पीयूष प्रवाह, १८८३), कवि व चित्रकार (१८६१), नागरी नीरद (१८८३), साहित्य-सुधानिधि (१८६४) और राजनैतिक दृष्टि से भारत-मित्र (१८७७), उचित वक्ता (१८७८), सार-सुधानिधि (१८७८), हिन्दुस्तान (दैनिक, १८८३), भारत जीवन (१८८४), भारतोदय (दैनिक, १८८५), शुभचिंतक (१८८७) और हिन्दी बंगवासी (१८६०) विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। इन पत्रों में हमारे १६वीं शताब्दी के साहित्य-रसिकों, हिन्दी के कर्मठ उपासकों, शैलीकारों और चिन्तकों की सर्वश्रेष्ठ निधि सुरक्षित है। यह क्षोभ का विषय है कि हम इस महत्त्वपूर्ण सामग्री का पत्रों की फाइलों से उद्धार नहीं कर सके हैं। बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, सदानन्द मिश्र, रुद्रदत्त शर्मा, अम्बिकादत्त व्यास और बालमुकुन्द गुप्त-जैसे सजीव लेखकों की कलम से निकले हुए न जाने कितने निबन्ध, टिप्पणी, लेख, पंच, हास-परिहास और स्केच आज हमें अलभ्य हो रहे हैं। इतने सजीव के पत्रकार हमें बीसवीं शताब्दी में भी दिखाई नहीं देते। आज भी हमारे पत्रकार उनसे बहुत-कुछ सीख सकते हैं। अपने समय में तो वे अग्रणी थे ही।

बीसवीं शताब्दी की पत्रकारिता हमारे लिए अपेक्षाकृत निकट है और उसमें बहुत-कुछ पिछले युग की पत्रकारिता की ही विविधता और बहुरूपता मिलती है। वास्तव में विकास-

शृङ्खला कुछ आगे बढ़ी है और पत्रकारिता की अनेक दिशाएँ अधिक स्पष्ट हो गई हैं। १९वीं शती के पत्रकारों को भाषा-शैली के क्षेत्र में अव्यवस्था का सामना करना पड़ा था। उन्हें एक ओर अँग्रेजी, दूसरी ओर उर्दू के पत्रों के सामने अपनी वस्तु रखनी थी। अभी हिन्दी में रुचि रखने वाली जनता बहुत छोटी थी। धीरे-धीरे परिस्थिति बदली और हम हिन्दी-पत्रों को साहित्य और राजनीति के क्षेत्र में नेतृत्व करते पाते हैं। इस शताब्दी में धर्म और समाज-सुधार के आन्दोलन कुछ पीछे पड़ गए और जातीय चेतना ने धीरे-धीरे राष्ट्रीय चेतना का रूप ग्रहण कर लिया। फलतः अधिकांश पत्र साहित्य और राजनीति को ही लेकर चले। साहित्यिक पत्रों के क्षेत्र में पहले दो दशकों में आचार्य द्विवेदी द्वारा सम्पादित 'सरस्वती' (१९०३-१९१८) का नेतृत्व रहा। वस्तुतः इन बीस वर्षों में हिन्दी के मासिक पत्र एक महान् साहित्यिक शक्ति के रूप में सामने आये। शृङ्खलित उपन्यास-कहानी के रूप में कई पत्र प्रकाशित हुए जैसे 'उपन्यास'(१९०१), हिन्दी नाविल (१९०१), उपन्यास लहरी (१९०२), उपन्यास सागर(१९०३), उपन्यास-कुसुमांजलि (१९०४), उपन्यास बहार (१९०७), उपन्यास प्रचार (१९१२)। केवल कविता अथवा समस्या-पूर्ति लेकर अनेक पत्र उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में निकलने लगे थे। वे चलते रहे। समालोचना के क्षेत्र में 'समालोचक' (१९०२) और ऐतिहासिक शोध से सम्बन्धित 'इतिहास' (१९०५) का प्रकाशन भी महत्त्वपूर्ण घटनाएँ हैं। परन्तु 'सरस्वती' ने Miscellany के रूप में जो आदर्श रखा था, वह अधिक लोकप्रिय रहा और इस श्रेणी के पत्रों में उसके साथ कुछ थोड़े ही पत्रों का नाम लिया जा सकता है जैसे भारतेन्दु (१९०५), नागरी हितैषिणी पत्रिका बाँकीपुर (१९०५), नागरी प्रचारक (१९०६), मिथिला मिहिर (१९१०) और इन्दु (१९०९)। 'सरस्वती' और 'इन्दु' दोनों हमारी साहित्य-चेतना के इतिहास के लिए महत्त्वपूर्ण हैं और एक तरह से हम इन्हें उस युग की साहित्यिक पत्रकारिता का शीर्षमणि कह सकते हैं। 'सरस्वती' के माध्यम से आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी और 'इन्दु' के माध्यम से पंडित रूपनारायण पाण्डेय ने जिस सम्पादकीय सतर्कता, अध्यवसाय और ईमानदारी का आदर्श हमारे सामने रखा वह हमारी पत्रकारिता को एक नई दिशा देने में समर्थ हुआ।

परन्तु राजनीतिक क्षेत्र में हमारी पत्रकारिता को नेतृत्व नहीं प्राप्त हो सका। पिछले युग की राजनैतिक पत्रकारिता का केन्द्र कलकत्ता था। परन्तु कलकत्ता हिन्दी प्रदेश से दूर पड़ता था और स्वयं हिन्दी-प्रदेश को राजनैतिक दिशा में जागरूक नेतृत्व कुछ देर में मिला। हिन्दी-प्रदेश का पहला हिन्दी दैनिक राजा रामपालसिंह का द्विभाषीय 'हिन्दुस्तान' (१८८३) है जो अँग्रेजी-हिन्दी में कालाकाँकर से प्रकाशित होता था। दो वर्ष बाद (१८८५), बाबू सीताराम ने 'भारतोदय' नाम से एक दैनिक पत्र कानपुर से निकालना शुरू किया। परन्तु ये दोनों पत्र दीर्घजीवी नहीं हो सके और साप्ताहिक पत्रों को ही राजनीतिक विचार-धारा का वाहन बनना पड़ा। वास्तव में उन्नीसवीं शताब्दी में कलकत्ता के भारतमित्र, बंगवासी, सारसुधानिधि और उचितवक्ता ही हिन्दी-प्रदेश की राजनीतिक भावना का प्रतिनिधित्व करते थे। इनमें कदाचित् 'भारतमित्र' ही सबसे स्थायी और शक्तिशाली था। उन्नीसवीं शताब्दी में बंगाल और महाराष्ट्र लोक-जागृति के केन्द्र थे और उस राष्ट्रीय पत्रकारिता में भी ये ही प्रान्त अग्रणी थे। हिन्दी-प्रदेश के पत्रकारों ने इन प्रान्तों के नेतृत्व को स्वीकार कर लिया और बहुत दिनों तक उनका स्वतन्त्र राजनीतिक व्यक्तित्व विकसित नहीं हो सका। फिर भी हम अभ्युदय (१९०५), प्रताप (१९१३) कर्मयोगी (१९१४),

हिन्दी केसरी (१६०४-०८) आदि के रूप में हिन्दी राजनैतिक पत्रकारिता को कई डग आगे बढ़ते देखते हैं। प्रथम महायुद्ध की उत्तेजना ने एक बार फिर कई दैनिकों को जन्म दिया। कलकत्ता से 'कलकत्ता समाचार', 'स्वतन्त्र' और 'विश्वमित्र' प्रकाशित हुए, बम्बई से 'वेंकटेश्वर समाचार' ने अपना दैनिक संस्करण प्रकाशित करना आरम्भ किया और दिल्ली से 'विजय' निकला। १६२१ में काशी से 'आज' और कानपुर से 'वर्तमान' प्रकाशित हुए। इस प्रकार हम देखते हैं कि १६२१ में हिन्दी-पत्रकारिता फिर एक बार करवटें लेती है और राजनीतिक क्षेत्र में अपना नया जीवन आरम्भ करती है। हमारे साहित्य-पत्रों के क्षेत्र में भी कुछ नई प्रवृत्तियों का आरम्भ इसी समय से होता है फलतः बीसवीं शती के पहले बीस वर्षों को हम हिन्दी-पत्रकारिता का तीसरा चरण कह सकते हैं।

१६२१ के बाद हिन्दी-पत्रकारिता का समसामयिक युग आरम्भ होता है। इस युग में हम राष्ट्रीय (राजनैतिक) और साहित्यिक चेतना को साथ-साथ पल्लवित पाते हैं। इसी समय के लगभग हिन्दी का प्रवेश विश्वविद्यालयों में हुआ और कुछ ऐसे कृती सम्पादक सामने आये जो अँग्रेजी की पत्रकारिता से पूर्णतया परिचित थे और जो हिन्दी-पत्रों को अँग्रेजी, मराठी और बँगला के पत्रों के समकक्ष लाना चाहते थे। फलतः साहित्यिक पत्रकारिता में एक नए युग का आरम्भ हुआ। राष्ट्रीय आन्दोलनों ने हिन्दी की राष्ट्रभाषा के लिए योग्यता पहली बार घोषित हुई और जैसे-जैसे राष्ट्रीय आन्दोलनों का बल बढ़ने लगा, हिन्दी के पत्रकार और उनके पत्र अधिक महत्त्व पाने लगे। १६२१ के बाद गांधीजी के नेतृत्व में राष्ट्रीय आन्दोलन मध्यवर्ग तक सीमित न रहकर ग्रामीणों और श्रमकरों तक पहुँच गया और उसके इस प्रसार में हिन्दी-पत्रकारिता ने महत्त्वपूर्ण योग दिया। सच तो यह है कि हिन्दी-पत्रकार राष्ट्रीय आन्दोलनों में अग्र-पंक्ति में थे और उन्होंने विदेशी सत्ता से डटकर मोर्चा लिया। विदेशी सरकार ने अनेक बार नये-नये कानून बनाकर समाचार-पत्रों की स्वतन्त्रता पर कुठाराघात किया। परन्तु जेल, जुर्माना और अनेकानेक मानसिक और आर्थिक कठिनाइयाँ झेलते हुए भी हमारे पत्रकारों ने स्वतन्त्र विचार की दीप-शिखा जलाए रखी।

१६२१ के बाद साहित्य-क्षेत्र में जो पत्र आये उनमें प्रमुख हैं माधुरी (१६२३), चाँद (१६२३), मनोरमा (१६२४), समालोचक (१६२४), चित्रपट (१६२५) कल्याण (१६२६), सुधा (१६२७), विशाल भारत (१६२५), त्याग-भूमि (१६२८), हंस (१६३०), गंगा (१६३०), विश्वमित्र (१६३३), रूपाभ (१६३८) साहित्य सन्देश (१६३८), कमला (१६३६), मधुकर (१६४०), जीवन-साहित्य (१६४०), विश्व-भारती (१६४२), संगम (१६४२), कुमार (१६४४), नया साहित्य (१६४५), पारिजात (१६४५), हिमालय (१६४६) आदि। वास्तव में आज हमारे मासिक साहित्य की प्रौढ़ता और विविधता में किसी प्रकार का सन्देह नहीं हो सकता। हिन्दी की अनेकानेक प्रथम श्रेणी की रचनाएँ मासिकों के द्वारा ही पहले प्रकाश में आई हैं। आज हमारे मासिक जीवन और साहित्य के सभी अंगों की पूर्ति करते हैं और अब विशेषज्ञता की ओर भी ध्यान जाने लगा है। सच तो यह है कि सरस्वती (१६००—), इन्दु (१६०६—१६), माधुरी (१६२३), त्याग-भूमि (१६२८), विशाल भारत (१६२८), हंस (१६३०) और रूपाभ (१६३८)-जैसे पत्रों को छोड़कर आधुनिक हिन्दी-साहित्य का इतिहास लिखना ही असम्भव बात है। साहित्य की प्रवृत्तियों की जैसी विकासमान झलक पत्रों में मिलती है, वैसी

पुस्तकों में नहीं मिलती। वहाँ हमें साहित्य का सक्रिय, सप्राण, गतिशील रूप प्राप्त होता है।

राजनीतिक क्षेत्र में इस युग में जिन पत्र पत्रिकाओं की धूम रही वे हैं कर्मवीर (१९२४), सैनिक (१९२४), सूर्य (१९१९), स्वदेश (१९२१), श्रीकृष्ण-सन्देश (१९२५), हिन्दू-पंच (१९२६), स्वतन्त्र भारत (१९२८), जागरण (१९२९), हिन्दी मिलाप (१९२९), सचित्र दरबार (१९३०), स्वराज्य (१९३१), नवयुग (१९३२), हरिजन सेवक (१९३२) विश्वबन्धु (१९३३), नवशक्ति (१९३४), योगी (१९३४), हिन्दू (१९३६), देशदूत (१९३८), राष्ट्रीयता (१९३८), संघर्ष (१९३८), चिनगारी (१९३८), नव ज्योति (१९३८), संगम (१९४०), जनयुग (१९४२), रामराज्य (१९४२), लोकवाणी (१९४२), सावधान (१९४२), हुंकार (१९४२), संसार (१९४३) और सन्मार्ग (१९४३)। इनमें से अधिकांश साप्ताहिक हैं, परन्तु जन-मन के निर्माण में उनका योग-दान महत्त्वपूर्ण रहा है। जहाँ तक पत्र-कला का सम्बन्ध है वहाँ तक हम स्पष्ट रूप से कह सकते हैं कि तीसरे और चौथे युग के पत्रों में धरती-आकाश का अन्तर है। 'हिन्दी केसरी' (१९०७—०९) और 'लोक युद्ध' (११४२) को साथ-साथ रखकर देखें तो यह स्पष्ट हो जायगा कि इन तीस-पैंतीस वर्षों में पत्र-सम्पादन का धरातल ही बदल गया है और आज पत्र-सम्पादन वास्तव में उच्चकोटि की कला है। राजनीतिक पत्रकारिता के क्षेत्र में 'आज' (१९२१) और उसके सम्पादक श्री बाबूराव विष्णुराव पराड़कर का लगभग वही स्थान है जो साहित्यिक पत्र-कारिता के क्षेत्र में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी को प्राप्त है। सच तो यह है कि 'आज' ने पत्र-कला के क्षेत्र में एक महान् संस्था का काम किया है और उसने हिन्दी को बीसियों पत्र-सम्पादक और पत्रकार दिये हैं। 'आज' के पथ-प्रदर्शन पर चलने वाले दैनिकों में से प्रमुख हैं सैनिक (१९२८), शक्ति (१९३०), प्रताप (१९३१), नवयुग (१९३२), नवराष्ट्र (१९३३), भारत (१९३३), लोकमत (१९३१), लोकमान्य (१९३०), विश्वमित्र (कलकत्ता १९१७), बम्बई (१९४१), नई दिल्ली (१९४२), नवभारत (१९३४), अधिकार (१९३८), अग्रगामी (१९३८), आर्यावर्त (१९४२), राष्ट्रवाणी (१९४२), संसार (१९४३), नया हिन्दुस्तान (१९४४), जयहिंद (१९४६) और सन्मार्ग (१९४६)। और भी अनेक दैनिक सामने आये हैं और आज वरदा से हिमालय और अमृतसर से कलकत्ता तक उनका ताना-बाना बुना हुआ है। दैनिक पत्र-कला का विशेष विकास पिछले दो महायुद्धों के बीच में हुआ है और अभी वह अंग्रेजी दैनिकों की तुलना में छोटी पड़ती है, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उसकी जड़ें देश की मिट्टी में दूर तक चली गई हैं और स्वतन्त्र भारत के नव-निर्माण में उसका महत्त्व उसी प्रकार अप्रतिम रहेगा जिस प्रकार राष्ट्रीय जन-संग्राम में उसका नेतृत्व अक्षुण्ण था।

ऊपर की विवेचना से यह स्पष्ट है कि आज की हिन्दी-पत्रकारिता के पीछे लगभग १२५ वर्षों की परम्परा है। आधुनिक साहित्य के अनेक अंगों की भाँति हमारी-पत्रकारिता की नई कोटि है और उसमें भी मुख्यतः हमारे मध्यवित्त समाज की सामाजिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक और राजनैतिक हलचलों का प्रतिबिम्ब है। वास्तव में पिछले १२५ वर्षों का सच्चा इतिहास हमारी पत्र-पत्रिकाओं से ही संकलित हो सकता है। बंगला में 'से कालेर कथा' ग्रन्थ में पत्रों के अवतरणों के आधार पर बंगाल के उन्नीसवीं शताब्दी के मध्यवित्त जीवन के पुन-र्निर्माण का प्रयत्न हुआ है। हिन्दी में भी ऐसा प्रयत्न वांछनीय है। एक तरह से उन्नीसवीं शती में साहित्य कही जा सकने वाली चीज बहुत कम है और जो है भी, वह पत्रों के पृष्ठों में

ही पहले-पहल सामने आई है। भाषा-शैली के निर्माण और जातीय शैली के विकास में पत्रों का योग-दान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहा है, परन्तु बीसवीं शती के पहले दो दशकों के अन्त तक मासिक पत्र और साप्ताहिक पत्र ही हमारी साहित्यिक प्रवृत्तियों को जन्म देते और विकसित करते रहे हैं। द्विवेदी युग के साहित्य को हम 'सरस्वती' और 'इंदु' में जिस प्रयोगात्मक रूप में देखते हैं, वही उस साहित्य का असली रूप है। १६२१ ई० के बाद साहित्य बहुत-कुछ पत्र-पत्रिकाओं से स्वतन्त्र होकर अपने पैरों पर खड़ा होने लगा, परन्तु फिर भी विशिष्ट साहित्यिक आन्दोलनों के लिए हमें मासिक पत्रों के पृष्ठ ही उलटने पड़ते हैं। राजनीतिक चेतना के लिए तो पत्र-पत्रिकाएँ महत्त्वपूर्ण हैं ही। वस्तुतः पत्र-पत्रिकाएँ जितनी बड़ी जन-संख्या को छूती हैं, विशुद्ध साहित्य का उतनी बड़ी जन-संख्या तक पहुँचना असम्भव है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद पत्र-पत्रिकाओं का महत्त्व और उनका उत्तरदायित्व बढ़ा है। आज हिन्दी राष्ट्रभाषा घोषित हो गई है और कई प्रान्तों में वही एक-मात्र राजकीय भाषा है। हिन्दी-पत्रकारिता धीरे-धीरे अंग्रेजी पत्रकारिता का स्थान ले रही है और निकट भविष्य में हम उसे और भी व्यापक और सशक्त देख सकेंगे।

डॉक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल

हिन्दी साहित्य पर संस्कृत साहित्य का प्रभाव

'संस्कृत हमारी भाषा के लिए गंगा नदी है। मुझे लगता रहता है कि वह सूख जाय तो भाषाएँ निर्माल्य बन जायँगी।'

—महात्मा गांधी

हिन्दी संस्कृत की पुत्री है। पुत्री सर्वांश में माता का वैभव-विकास होती है। हिन्दी का जीवन-रस संस्कृत के सारस्वत स्रोत से प्रवाहित हुआ है। हिन्दी का यह महान् गौरव है। भाषा, शब्दावली, व्याकरण, भाव, वस्तु, आदर्श और परम्परा—प्रत्येक क्षेत्र में हिन्दी पर संस्कृत का भरपूर ऋण है। अथवा उदार मन से सोचें तो हिन्दी ने संस्कृत से उन्मुक्त दान पाया है। हिन्दी की स्थिति उस कोंपल के समान है जो प्राचीन पर्ण का उत्तराधिकार सँभालकर नव जीवन के लिए फुटाव लेती है। भाषाओं का विकास अवश्यम्भावी है। मानवी संस्थाओं के समान भाषा भी परिवर्तित होती है। वैदिक भाषा, संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, प्राचीन लोक-भाषा और अर्वाचीन हिन्दी—इस क्रम से तीन सहस्र वर्षों से भी अधिक लम्बे समय तक इस देश में भाषा और साहित्य का अनवरत विकास होता रहा है। हिन्दी उसकी अन्तिम कड़ी है; और जहाँ तक मध्य देश का सम्बन्ध है हिन्दी ने ही साहित्य और संस्कृति के इस बहुमूल्य प्रसादाय को सर्वांश में प्राप्त किया है। मनु के शब्दों में मध्यदेश भारत का हृदय है। आज मध्यदेश की भाषा राष्ट्रीय गौरव से सम्पन्न हुई है। भारत के भाषा-सम्बन्धी इतिहास की यह स्वाभाविक पूर्णा हुई है।

वैदिक भाषा इस देश की प्राचीनतम भाषा है जिसका साहित्य इस समय भी उपलब्ध है। शब्द-सम्पत्ति और भाव-प्रकाशन की दृष्टि से वह अत्यन्त समृद्ध भाषा थी। हिन्दी की निजी प्रकृति तो वैदिक भाषा के साथ ही अस्तित्व में आ गई थी। धातु और प्रातिपदिक, प्रकृति और प्रत्यय, समास और वाक्य, कृदन्त और तद्धित, देश वाचक, काल वाचक, सम्बन्ध वाचक शब्द—इस प्रकार भाषा का भरा-पूरा ठाठ वैदिक भाषा में ही मिलने लगता है जो विकास के प्रत्येक चरण में और सशक्त बनता गया, एवं उसकी जो मौलिक भाषा-कल्पना थी वह उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होती हुई अन्त में हिन्दी को मिली है। विराट् प्रकृति, अग्नि, वायु, आदित्य, पृथिवी, द्युलोक, गृहस्थ-जीवन, कर्म और ज्ञान, मन और प्राण, धन और सुवर्ण, शरीरावयव और सौन्दर्य, नृत्य-गान, वस्त्राभूषण, खान-पान, पशु-पक्षी, औषधि-वनस्पति, वीरता और युद्ध, देवी-देवता, इत्यादि अनेक क्षेत्रों में शब्दों और भावों का समृद्ध भंडार वैदिक युग में ही प्राप्त होता है।

उदाहरण के लिए अकेले कवर्ग के अन्तर्गत हमारे जीवन के अधिकांश प्रमुख शब्द ऋग्वेद की भाषा में से अस्तित्व में आ चुके थे—कवि, कर्म, कन्या, ककुभान्त, कक्ष्या, कतम, कति, कतिधा, कदा, कनिष्ठ, कपर्दी, कपि, कपोत, कपिल, करण, कर्ण, कर्ता, कर्मण्य, कला, कल्प,

कल्याण (कल्याणी), कवित्व, काव्य, कश्यप, काम, कामी, काम्य, काल, किरण, किल्बिष, कुवल, कीनाश (=किसान), कुक्षि, कुमार, कुम्भ, कुल, कुलिश, कुल्या, कूप, कूल, कूट, कुक्कु, कृत, कृति, कृपण, कृपा, कृश, कृशानु, कृषि, कृष्ण, केतु, केवट, केवल, केश, केशी, केशिनी, कोप, कोश, क्रतु, क्रन्दन, क्रमण, क्रियमाण, क्रीडन्त, क्रुद्ध, क्षत्र, क्षत्रिय, क्षपा, क्षमा, क्षय, क्षर, क्षिति, क्षिप्र, क्षीर, क्षीरपाक, क्षुद्र, क्षुधा, क्षुर, क्षेत्र, क्षेम, क्षोणी, क्षोद, क्षोमण, क्ष्मा। इनमें से कुछ शब्द ज्यों के-त्यों और कुछ रूप बदलकर आज हिन्दी भाषा की निधि हैं। विकास की लम्बी पगडंडी पार करते हुए वे हिन्दी को अपने उष:कालीन तेजस्वी रूप में प्राप्त हुए हैं। कवि, काव्य, कला, काल, काम, कर्म, कृषि, कोश, क्षेत्र, क्षीर, कल्याण-जैसे शब्द हिन्दी-साहित्य और हिन्दी-संसार के रोम रोम में व्याप्त हैं; हिन्दी के चिन्तन के वे ऐसे ही स्फुट प्रतीक हैं जैसे वैदिक युग में वैदिक दर्शन के लिए थे। इसी प्रकार वैदिक भाषा सच्चे अर्थों में हिन्दी की आद्या जननी थी। उस कामधेनु के क्षीर से हिन्दी का अंग-प्रत्यंग आज तक पोषित है। गण, गणपति, गति, गंगा, गम्भीर, गौ, गाथा, गिरा, गिरि, गुरु, गुहा, गुह्य, गृह, गृहपति, गोत्र, गोप, गौरी, ग्राम, ग्रीष्म—इनमें से प्रत्येक शब्द ऋग्वेदकालीन होते हुए भी हिन्दी के उदार प्रांगण में किलोल कर रहा है। काल-क्रम से इतिहास के थपेड़ों ने शब्दों का भी रूप बदल दिया है। ककुत् से कउआ—कौआ, कपर्द से कवड्ड—कउड्ड—कौड़ा, कुक्षि से कुक्खि—कोख, कतिधा से कइहा, क्षीर से खीर, क्षुद्र से खुद्द-खूद, क्षोद से खोवा—ये नये शब्द प्राकृत और अपभ्रंश के प्रभाव से बने और लोक-भाषाओं में घुल-मिल गए हैं। हिन्दी के विकास की प्रकृति निराकरण-प्रधान नहीं है, वह कई रूपों को स्वीकार करती है। आज हिन्दी की भाषा-शैली में ककुत् और कौआ दोनों मान्य हैं। वैदिक क्षपा से पहलवी—फारसी के साँचे में ढलकर शब (=रात) शब्द भी हिन्दी को प्राप्त हुआ है जो शबनम में प्रयुक्त है। हिन्दी की उदार वृत्ति उसके प्रति भी कुण्ठित नहीं है। इस प्रकार हिन्दी का पवित्र यज्ञ वैदिक-संस्कृत प्राकृत-अपभ्रंश की सुदीर्घकालीन दृढ़-काचिति से सम्पादित वेदी में सम्पन्न हो रहा है।

न केवल शब्द, बल्कि अर्थ और भावों के लिए भी हिन्दी संस्कृत के अमृत जल से प्रोक्षित है। उदाहरण के लिए—

यस्ते अद्य कृणवद्भद्रशोचेऽपूपं देव घृतवन्तमग्ने। (ऋ० १०।४५।६)

'मन्दी-मन्दी आँच पर जो घृतयुक्त मालपूए आज हमने तैयार किये हैं।' इस गृहस्थी-जीवन की नित्य परिचित स्थूल घटना को जिस सुन्दर ऋग्वेदीय वाक्य में कहा गया है वह पढ़ते ही प्रत्येक हिन्दी-भाषी के हृदय के निकट की वस्तु प्रतीत होती है। अथवा, अध्यात्म अर्थ की दृष्टि से—

अपां मध्ये तस्थिवांसं तृष्णा विदज्जरितारम्। (ऋ० ७।८९।४)

इस सन्ध्या भाषा के कितना निकट है, मानों आध्यात्मिक अनुभव की एक ही धारा की दो लहरें हों। श्री आनन्दकुमार स्वामी का तो यह अनुभवसिद्ध अभिमत था कि ऋग्वेद के ऋषियों को जो विदित था। उसमें उपनिषदों ने नया कुछ नहीं जोड़ा।[१] अध्यात्म विचारों की अनेक

१. 'I am sure that the Upnisads add nothing *new* to what must have been understood by the "authors" of the Rigveda, who could not have written what they did without knowing what they were doing.'

(१३ मई, १९३९ के एक पत्र में)

धाराएँ इस देश में प्रवाहित हुईं। उपनिषदों में, पुराणों में, दर्शनों में वे बहुत प्रकार से पल्लवित हुईं, और पारस्परिक आदान-प्रदान से अनुगृहीत होती रहीं। संस्कृत के महाकाव्यों और भारतीय कलाओं पर भी विचारों के उन मौलिक अभिप्रायों की छाप पड़ी है। वैदिक 'देवासुरम्', देवों और असुरों के विराट् संघर्ष की कल्पना बार-बार संस्कृत काव्यों और पुराणों में आती है। पुराणों के गाथा-शास्त्र का अधिकांश ठाठ इसी अभिप्राय से निर्मित हुआ है। राम और रावण के युद्ध की कल्पना भारतीय अध्यात्म की उसी प्राचीन बारहखड़ी से बनी है, जो कालान्तर में हिन्दी के और अन्य प्रादेशिक भाषाओं के रामायण-वाङ्मय की जनयित्री हुई। वाल्मीकि ने संस्कृत-रामायण में जिस शब्द ब्रह्म का दर्शन किया उसके सहस्रमुखी पुष्कल विधान का बल पाकर ही देश्यभाषाओं का रामायण-साहित्य बना है और जैसा गोस्वामी जी ने लिखा है, इस साहित्य में अनेक पुराण और वेद, शैव और वैष्णव आगम, एवं कितने ही अन्य स्रोतों से स्वच्छन्द सामग्री का ग्रहण किया गया है। वेदमत, सन्तमत, लोकमत—तीनों परम्पराएँ हिन्दी के धर्मानुप्राणित काव्य-साहित्य में मिली हैं। जिन वर्णों और अर्थ-संघों का, रसों और छन्दों का, एवं ज्ञान (बोध) और विज्ञान का 'रामचरितमानस' के आरम्भ में स्मरण किया गया है उनका पूर्ण विकसित क्षेत्र संस्कृत-साहित्य में ही था जो कवि को इष्ट है। अक्षर और अर्थ, नाना अलंकार और अनेक प्रकार के छन्द, भाव-भेद और रस-भेद—काव्य-सम्बन्धी ये विशेषताएँ भी संस्कृत-साहित्य के मूल स्रोत से हिन्दी-काव्य को मिली थीं और आज भी मिल रही हैं। किन्तु काल-क्रम से, राष्ट्र की प्रतिभा ने और भी जिस वस्तु का नया सृजन किया, वह भी हिन्दी के कवियों और साहित्यिकों को मान्य और शिरोधार्य रहा है। इसी भावना से गोसाईं जी ने लिखा था :

जे प्राकृत कवि परम सयाने। भाषा जिन्ह हरि चरित बखाने॥
भये जे अहहिं जे हो इहहिं आगे। पनवौं सबनि कपट छल त्यागे॥

प्राकृत साहित्य की जो कुछ देन थी, भाषा अर्थात् अपभ्रंश-काव्यों की जितनी परिपाटी थी सबको स्वीकार करके, अपना बनाकर हिन्दी की मानस-मन्दाकिनी आगे बढ़ी। और दूसरी चौपाई में तो, गोसाईं जी भविष्य के लिए भी हिन्दी-भाषा की नीति निर्धारित कर गए हैं। जो हो चुके हैं, जो इस समय वर्तमान हैं, जो आगे जन्म लेंगे, उन समस्त काव्य और कवियों को, साहित्य और साहित्यिकों को हिन्दी के लेखक की प्रणामाञ्जलि अर्पित है, हिन्दी-भाषा उन सबके प्रति स्वागत की आरती सँजोती है। यही हिन्दी की उदार वाणी है। हिन्दी गंगा की धारा के समान समन्वय का मन्त्र पाकर आगे बढ़ी है। वह न केवल अपने प्राचीन 'नाना पुराण निगमागम' साहित्य से उपकृत हुई है, बल्कि 'क्वचिदन्यतोऽपि,' अन्य स्थानों से भी जो उपयोगी तत्त्व उसे मिलता है उसे सिर माथे पर रखती है। हिन्दी सारवस्तु के निराकरण की बात सोचती ही नहीं। यह हिन्दी का आत्मधर्म है।

'व्यास आदि कविपुङ्गव नाना'—इस पंक्ति में संस्कृत-साहित्य के सभी महाकवि और उनकी कृतियाँ परिगृहीत हैं। वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, भारवि, माघ, हर्ष, बाण, दण्डी, भवभूति, सबने हिन्दी को प्रभावित किया है। इनमें से अनेकों के अनुवाद, भावार्थ हिन्दी में हुए हैं। 'बन्दौ मुनिपदकंज रामायन जेहि निरमयेउ' के द्वारा तुलसीदास जी ने 'वाल्मीकि रामायण' को कालिदास के सदृश अपने सम्मुख रखा था। तब से लेकर भारतेन्दु जी के पिता श्री गिरिधरदासजी-कृत 'वाल्मीकि रामायण' (सातों काण्ड पद्यानुवाद) तक वाल्मीकि के कई अनुवाद और

भावार्थ हिन्दी को प्राप्त हुए। छत्रधारी ने संवत् १६१४ में 'वाल्मीकि रामायण' के तीन काण्डों का अनुवाद किया; सन्तोषसिंह ने सं० १८६० में उसका भाषानुवाद किया; और गणेश कवि ने 'वाल्मीकीय रामायणश्लोकार्थ प्रकाश' के नाम से रामायण के बालकाण्ड तथा सुन्दरकाण्ड के पाँच सर्गों का भाषानुवाद किया। वस्तुतः १५वीं शती से १८वीं शती तक हिन्दी का जो पद्य और गद्य-साहित्य बना उसका शतांश भी अभी नहीं छपा। भाषा के विकास और साहित्य के इतिहास के लिए उसका प्रकाशन आवश्यक है। 'अध्यात्म रामायण' के भी हिन्दी में अनुवाद हुए। रामचरित और रामायण के अन्य पात्रों पर हिन्दी में सहस्राधिक ग्रन्थों की रचना हुई, जिनमें कुछ पूर्व भाव लेकर और कुछ नई कल्पना से लोक में राम-कथा का विकास और रूप-परिवर्तन होता रहा। इसी प्रकार 'महाभारत' और उसके खंड-कथानकों पर हिन्दी में बराबर ही कार्य होता रहा। १८वीं शती में कवि रघुनाथ के पुत्र गोकुलनाथ, पौत्र गोपीनाथ और गोकुलनाथ के शिष्य मणिदेव ने 'महाभारत' का भाषा में अनुवाद किया था जिसकी प्रति काशि-राज के पुस्तकालय में है और अभी तक अप्रकाशित है। सं० १७५७ में छत्रसिंह ने 'विजय-मुक्तावली' के नाम से महाभारत की कथा स्वतन्त्र प्रबन्ध-काव्य के रूप में कई छन्दों में लिखी। दिग्गज कवि ने सं० १७६६ में 'भारत-विलास' नाम से महाभारत की कथा का वर्णन किया। मनसाराम पाण्डे ने सं० १८६४ में महाभारत की संक्षिप्त कथा 'भारत-प्रबन्ध' के नाम से लिखी। सं० १६१२ में नवलसिंह ने महाभारत को अपनी साहित्य-साधना का प्रिय विषय बनाकर 'मूल-भारत', 'भारत-सावित्री', 'भारत कवितावली', 'भारतवार्तिक' की हिन्दी में रचना की। हिन्दी-साहित्य के इतिहास की परम्परा में ये सब ध्यान देने योग्य हैं। १८वीं शती में विशेष रूप से हिन्दी के साहित्यिकों ने संस्कृत-साहित्य के भाषानुवाद की ओर ध्यान दिया था। 'भगवद्गीता' के भी अनुवाद उस समय और बाद में हुए। सं० १७६१ में आनन्दराम ने 'परमानन्द प्रबोध' नाम से गीता का अनुवाद किया, और सं० १७६२ में जनभुवाल ने 'कृष्णार्जुन संवाद' नाम से गीता का हिन्दी-रूपान्तर किया। भगवानदास ने सं० १७५६ में गीता की रामानुजी टीका का 'भाषामृत' नाम से अनुवाद किया। संस्कृत भागवत् को आधार बनाकर हिन्दी-साहित्य में अनुवाद और नूतन रचना की बाढ़ ही आ गई। कृष्ण-भक्ति-शाखा में भगवत्सेवा का जैसा भारी मंडान है उससे कम विस्तृत साहित्य का मंडान नहीं है। भागवत की लीलाओं का गान करने वाले अष्टछाप के कवि और उनके सहस्रों अनुकर्ताओं ने कृष्ण-साहित्य का खूब विस्तार किया जिसमें संस्कृत-साहित्य के भाव, शब्दावली और रूप-विधान का स्वच्छन्द आश्रय लिया गया है। रास, दान, मान, गोवर्धन आदि लीलाएँ संस्कृत और हिन्दी दोनों में समान प्रिय हुई। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण साहित्यिक प्रभाव जयदेव के पद-साहित्य का है। कृष्ण-भक्ति-शाखा का साहित्य पद-साहित्य ही है। न केवल हिन्दी, वरन् अन्य प्रादेशिक भाषाओं में भी संस्कृत की पद-साहित्य-परम्परा खूब फैली। कन्नड़ भाषा के दास कवियों का पद-साहित्य अत्यन्त प्रभावशाली है।

हिन्दी का नायिका-भेद-सम्बन्धी साहित्य संस्कृत पर आश्रित है। इनमें भानुदत्त-कृत 'रसमंजरी'(१५वीं शती विक्रमी) अत्यन्त प्रसिद्ध संस्कृत-ग्रंथ है,जिसके आधार पर अनेक भाषा-ग्रंथों की रचना हुई। भानुदत्त के आधार पर कृपाराम ने सं० १५६८ में 'हित-तरंगिनी' नामक नायिका-भेद का सबसे प्राचीन ग्रंथ लिखा। प्रसिद्ध भक्त कवि नन्ददास ने भी भानुदत्त कृत रसमंजरी के आधार पर ही 'हिन्दी-रसमंजरी' (नायिका-भेद-सम्बन्धी ग्रंथ) की रचना संवत् १६२४-३० के

लगभग की। (रसमंजरी अनुसार कै नन्द सुमति अनुसार। बरनत बनिता-भेद जहँ प्रेमसार विस्तार॥) शाहजहाँ के काल में सं० १६८८ में सुन्दरदास ने 'सुन्दर शृङ्गार' नामक नायिका-भेद पर ग्रंथ लिखा। इन्होंने ही ब्रजभाषा में 'सिंहासन द्वात्रिंशिका' का भी अनुवाद किया था और 'ज्ञान-समुद्र' नाम से एक दार्शनिक ग्रंथ भी लिखा। संवत् १६४८ में केशवदास जी ने विविध संस्कृत-ग्रंथों को आधार बनाया। 'रसिकप्रिया' ग्रंथ लिखा, जो काव्य की सरसता और भावों की प्रौढ़ता की दृष्टि से अत्यन्त उत्कृष्ट रचना मानी जाती है। सुन्दरदास और केशवदास के ग्रंथों का दक्षिण के मुसलमान कवि अकबर शाह ने अपनी संस्कृत 'शृङ्गार-मंजरी' में भी प्रमाणोल्लेख किया है। चिन्तामणि ने सं० १७०७ में 'कवि कुल कल्पतरु' की रचना की, जिसमें नायिका-भेद के अतिरिक्त काव्य-शास्त्र के अन्य अंगों का भी मार्मिक विवेचन किया गया है। हिन्दी-भाषा का शृङ्गार-सम्बन्धी रीतिकालीन साहित्य संस्कृत-साहित्य की परम्परा से ही अनुप्राणित हुआ है। मतिराम और देव ने इस साहित्य को अत्यन्त सरस बनाया और खूब पल्लवित किया। काव्य-शास्त्र के सभी विषयों पर देव ने ग्रन्थ-रचना की और नायिका-भेद-विषयक कितने ही ग्रन्थ लिखे। कहा जाता है कि उन्होंने संस्कृत में 'शृङ्गार विलासिनी' नामक एक ग्रन्थ सं० १७५७ में बनाया जिसमें हिन्दी के छन्द छप्पय, सवैया, दोहा आदि प्रयुक्त हुए हैं। १८वीं शती में हिन्दी-भाषा और उसके बाह्य-रूप-विधान की प्रौढ़ता इससे सिद्ध होती है। हिन्दू और मुसलमान, कोई भी दरबार ऐसा उस समय न था जहाँ हिन्दी की कविता और साहित्य को समाश्रय न मिला हो। हिन्दी का विस्तृत काव्य-लक्षण-सम्बन्धी-साहित्य संस्कृत की देन है। मम्मट आदि आचार्यों ने जो-कुछ इस विषय में परिपक्व चिन्तन किया था उसे हिन्दी के आलंकारिक आचार्यों ने अपना उपजीव्य बनाया। काव्य-लक्षण, काव्य-भेद, शब्दार्थ, ध्वनि, भाव-भेद, रस, अलंकार, काव्य के गुण-दोष, चित्र काव्य आदि विषयों पर हिन्दी के आलंकारिक आचार्यों ने संस्कृत की परम्परा का अनुसरण करते हुए गहरी छान-बीन की। हिन्दी-काव्य-सम्बन्धी शब्दावली और परिभाषाएँ प्रायः वे ही हैं जो संस्कृत में थीं। सैयद गुलाम नबी 'रसलीन' ने सं० १७९९ में 'रस-प्रबोध' नामक ग्रन्थ के सहस्राधिक दोहों में रस-भेद, भाव-भेद और नायिका-भेद का सर्वाङ्गपूर्ण वर्णन करते हुए पारिभाषिक शब्दावली संस्कृत की ही रखी, यथा असाध्या नायिका के पाँच उपभेदों में सभीता, गुरुजनसभीता, दूतीवर्जिता, अतिक्रान्ता आदि नाम शुद्ध संस्कृत के हैं। संस्कृत ग्रन्थों से भी अधिक जहाँ विषय का विस्तार किया जाता था, वहाँ भी शब्दावली के निर्माण में संस्कृत की ही परम्परा बरती जाती थी। सभी शास्त्रीय ग्रन्थों में आज तक हिन्दी की यही पद्धति रही है अर्थात् संस्कृत-जन्य परिभाषा और शब्दावली की रक्षा। कहीं-कहीं लेखकों ने स्पष्ट कहा है कि उन्होंने अपने ग्रन्थ का विषय संस्कृत से लिया है, जैसे चन्द्रशेखर कवि ने अपने 'रसिक-विनोद' ग्रन्थ में नवरस का वर्णन सं० १९०३ भरत मतानुसार किया है। वस्तुतः हिन्दी-साहित्य के लिए यह पूरे खोज-निबन्ध का विषय है कि संस्कृत-ग्रन्थों से हिन्दी का काव्य, अलंकार, रस और नायिका-भेद-सम्बन्धी साहित्य कहाँ तक अनुप्राणित और उपकृत हुआ है।

हिन्दी के पूर्व विद्वान् संस्कृत के नाटक और काव्य-साहित्य के भी अति सन्निकट थे। संस्कृत के सभी प्रसिद्ध ग्रन्थों का हिन्दी में अनुवाद किया गया। जिस वर्ष गोस्वामी जी का स्वर्गवास हुआ उसी वर्ष सं० १६८० में पंजाब के कवि हृदयराम ने संस्कृत 'हनुमन्नाटक' के आधार पर 'भाषा हनुमन्नाटक' लिखा, जिसकी कविता बड़ी सुन्दर और परिमार्जित है। औरङ्गजेब के

समकालीन मारवाड़ के महाराज जसवन्तसिंह ने 'प्रबोध-चन्द्रोदय' नाटक का अनुवाद किया। औरंगजेब के पुत्र आजमशाह के आश्रित निवाज कवि ने सं० १७३७ में 'शकुन्तला' का अनुवाद किया। कवि गणेश-कृत-'प्रद्युम्नविजय' नाटक अनेक प्रकार के छन्दों में सात अंकों में समाप्त हुआ है, जो रचना की दृष्टि से स्वतन्त्र होते हुए भी पुराने संस्कृत कथानक पर आश्रित है। संस्कृत नाटकों के भाषानुवाद की यह परिपाटी राजा लक्ष्मणसिंह और कविवर सत्यनारायण तक चली आई। वस्तुतः हिन्दी में इस परम्परा को और भी अधिक आश्रय मिलना चाहिए था।

हिन्दी का प्राचीन नीति-साहित्य और दर्शन-साहित्य भी अधिकांशतः संस्कृत की देन है। कृष्ण कवि ने सं० १७६२ में 'विदुर प्रजागर' की रचना की। 'पंचतन्त्र', 'हितोपदेश'-जैसे विश्व-प्रसिद्ध ग्रन्थों के भी हिन्दी में अनुवाद हुए। दार्शनिक साहित्य तो हिन्दी का अत्यन्त विस्तृत है जिसका क्रमबद्ध इतिहास अभी लिखा जाना शेष है। ऊपर गीता के अनुवादों का उल्लेख हो चुका है। सं० १८३७ में अनेमानन्द ने 'नाटक दीप' के नाम से 'भाषा पंचदशी' की रचना की। श्री लल्लूलाल से भी ६२ वर्ष पूर्व के प्रौढ़ गद्य-लेखक श्री रामप्रसाद निरंजनी ने सं० १७६८ में 'भाषा योगवसिष्ठ' नाम का गद्य-ग्रन्थ बहुत साफ-सुथरी खड़ी बोली में लिखा। ये हिन्दी के प्रथम प्रौढ़ गद्य-लेखक माने जा सकते हैं, जिनकी भाषा शुक्ल जी के अनुसार अत्यन्त शृंखला-बद्ध साधु और व्यवस्थित है। 'योगवसिष्ठ' का एक अनुवाद सं० १७१४ में ही हो चुका था। रामप्रसाद के बाद भी तीन अनुवाद हुए। प्रसिद्ध भिखारीदास जी ने 'विष्णु-पुराण' का भी भाषानुवाद किया था। धर्म, नीति और दर्शन-सम्बन्धी अनेक प्रसंग हिन्दी-साहित्य में सीधे संस्कृत से आते रहे हैं। निर्गुण और सगुण दोनों शाखाओं पर संस्कृत के दार्शनिक चिन्तन की गहरी छाप है। भक्ति-संयुत वेदान्त यही हिन्दी-साहित्य का राष्ट्रीय दृष्टिकोण १८वीं शती तक टकसाली था। इस महान्यग्रोध की जड़ें निश्चय ही संस्कृत-साहित्य में फैली हुई हैं।

लीलावती, ज्योतिष, माधवनिदान, शालिहोत्र, अमर कोष आदि वैज्ञानिक साहित्य के भी कितने ही अनुवाद हिन्दी में पाए जाते हैं। अपभ्रंश युग से ही ये विषय संस्कृत से लोक-भाषा में आने लगे थे। ठक्कुर फेरु ने, जो अलाउद्दीन के समय में दिल्ली की टकसाल के अध्यक्ष थे, गणित, रत्न परीक्षा, ज्योतिष आदि विषयों पर ग्रन्थ लिखे; जिनमें सबसे महत्त्वपूर्ण 'द्रव्य-परीक्षा' है, जो भारतीय सिक्कों पर एक-मात्र उपलब्ध ग्रन्थ है और जिसमें ६वीं शती से १३वीं शती तक के लगभग तीन सौ सिक्कों के नाम मोल-तोल दिये गए हैं।

हिन्दी-साहित्य में सतसई, शतक, पंचाशिका, बत्तीसी, बहत्तरी, बावनी, आदि के ढंग सैकड़ों ग्रन्थ हैं, जिनका बाहरी विधान संस्कृत से आया है। संस्कृत-प्राकृत में 'गाथा सप्तशती', 'आर्या सप्तशती' प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। हिन्दी में सतसई की परम्परा खूब फूली-फली। गुप्त-काल में ही सिद्धसेन दिवाकर ने ३२ बत्तीसियों की रचना की थी। 'सांख्य सप्तति' प्रसिद्ध ही है। बाणभट्ट ने 'हर्षचरित' में रास पदों का उल्लेख किया है, जो परम्परा हिन्दी के रास, रासो, रासा ग्रन्थों में पल्लवित हुई। यह किसी समय लोक-साहित्य था, जो पीछे लिखित साहित्य के रूप में आ गया।

संस्कृत-साहित्य और भाषा हिन्दी के रोम-रोम में व्याप्त रही हैं। जैसा गान्धी जी ने अपने आर्ष अनुभव से लिखा था वह ध्रुव सत्य है—'संस्कृत हमारी भाषा के लिए गंगा नदी है। मुझे लगता रहता है कि वह सूख जाय तो भाषाएँ निर्माल्य बन जायँगी।' संस्कृत का अमृत हिन्दी

को मिलते रहना चाहिए। उस स्रोत में हिन्दी की जीवनदायिनी प्राण-धारा का रस है। हिन्दी के विकास की एक विशेषता यह रही है कि संस्कृत से इतना सान्निध्य रखते हुए भी उसने अपनापन बनाए रखा और अपने रूप-विधान के लिए अनेक प्रकार के नये छन्द, साहित्यिक रूप और भाषा-शैलियों का स्वाभाविक विकास किया है। कहीं भी हिन्दी की प्रगति संस्कृत के भार से कुण्ठित नहीं हुई। जहाँ भी संस्कृत की धारा मिली वहीं हिन्दी ने नवजीवन प्राप्त किया। वस्तुतः अपभ्रंश के बाद संस्कृत के शब्द-रूपी का वरदान पाकर ही हिन्दी की नवीन शैली प्रवृत्त हुई। इसका सर्वोत्तम रूप रामायण में मिलता है: 'नव रसाल बन विहरणशीला। सोह कि कोकिल विपिन करीला।' हिन्दी की परिमार्जित और टकसाली शैली है। उसी के साथ जनपदीय शैली भी कन्धे-से-कन्धा मिलाकर चलती रही। उसी रामायण में गाँवों की यह शैली भी घुली मिली है:

सुन केवट के बैन, प्रेम लपेटे अटपटे।
बिहँसे करुना अयन, चितइ जानकी लखण तन॥

अथवा

सीय समीप ग्रामतिय जाहीं। पूछत अति सनेह सकुचाहीं॥
बार बार सब लागहिं पाए। कहहिं बचन मृदु सरल सुभाए॥
राजकुमारि बिनय सब करहीं। तिय सुभाय कछु पूँछत डरहीं॥
स्वामिनि अबिनय छमबि हमारी। बिलगु न मानबि जानि गँवारी॥

वस्तुतः भाषा की दृष्टि से गोसाईं जी ने 'रामचरित मानस' और 'विनयपत्रिका' में जितने बहुसंख्यक संस्कृत शब्दों का प्रयोग किया है उतने नए शब्द संस्कृत के कवियों में भी विरलों ने ही प्रयुक्त किये हैं।

हिन्दी-प्रबन्ध-काव्यों के भीतर की वर्णन-शैली और वस्तु-विधान पर भी संस्कृत-साहित्य का घनिष्ठ प्रभाव था। दण्डी ने महाकाव्य के लक्षण गिनाते हुए लिखा कि अच्छे प्रबन्ध काव्य में पुत्र-जन्म, विवाह, उद्यान-क्रीडा, सलिल-क्रीडा, दिग्विजय, सूर्योदय, सूर्यास्त, चन्द्रोदय आदि के वर्णन रहने चाहिएँ। हिन्दी के प्रबन्ध-काव्यों में ये लक्षण अति स्पष्ट हैं। संस्कृत,प्राकृत, अपभ्रंश की परिपाटी के अनुसार काव्य के आरम्भ में सज्जन-प्रशंसा और दुर्जन-निन्दा का वर्णन रहना चाहिए, कालिदास और बाण ने भी इस पद्धति का कलात्मक ढंग से निर्वाह किया। 'भविसयत्तकहा' नामक अपभ्रंश-काव्य के आरम्भ में सज्जन-दुर्जन-लक्षणों का विस्तृत वर्णन आया है। 'रामचरित मानस' में उसी परम्परा का निर्वाह किया गया है। इसी प्रकार किसी उद्यान में सरोवर के तट पर स्थित मन्दिर में देव-पूजन के लिए आई हुई नायिका और नायक का सम्मिलन प्राचीन अभिप्राय था। 'कादम्बरी' में महाश्वेता-वृत्तान्त में वह मिलता है। उसी का निर्वाह तुलसी और जायसी ने किया है। तुलसीदास जी ने चन्द्रोदय का वर्णन करते हुए सिंह का उपमान दिया है जो 'रामायण' का अत्यन्त उत्कृष्ट साहित्यिक स्थल है:

पूरब दिसि गिरि-गुहा निवासी। परम प्रताप तेज बल रासी॥
मत्त नाग तम कुम्भ बिदारी। ससि केसरी गगन बन चारी॥
बिथुरे नभ मुकुताहल तारा। निसि सुन्दरी केर सिंगारा॥

इसकी तुलना बाण के निम्न लिखित वर्णन से करने पर कितना सादृश्य मिलता है:

शशिकेसरिविदार्यमाण स्मः करिकुम्भसम्भवेन मुक्ताफलक्षोदेनेव धवलतामुपनीयमानमुदयगिरि सिन्धुसुन्दरी कुचकुंभेन चन्दनचूर्णराशिमेव पांडुरी क्रियमाणम्। (कादम्बरी)

अथवा

अहाँ बिलोकि मृगसावक नयनी। जनु तहँ बरिस कमल सित श्रेनी॥

की सुन्दर उत्प्रेक्षा संस्कृत-साहित्य में चिर परिचित है।

बाण ने लिखा है : अपांग विक्षेपैश्चलित कुवलयवनमयीमिव क्रियमाणामवनीम्।

संस्कृत और हिन्दी में इस प्रकार सादृश्य सम्बन्धों की इयत्ता नहीं है। संस्कृत की शब्द-सम्पत्ति और कल्पना-समृद्धि हिन्दी की निसर्ग-प्राप्त निधि रही है। संस्कृत के पुष्कल रूप-संभार का उत्तराधिकार प्राप्त करके हिन्दी उससे भी आगे बढ़ी और उसने भाषा एवं साहित्य सम्बन्धी शैली का अपना रूप-लावण्य प्राप्त किया। वही हिन्दी का निजी तेज है।

भविष्य के लिए तो हिन्दी का उत्तरदायित्व और भी महान् है। संस्कृत-साहित्य और भारतीय संस्कृति की अभूतपूर्व जानकारी पिछले सौ वर्षों में हमारे राष्ट्र को प्राप्त हुई है। उस समस्त निधि को हिन्दी के माध्यम से प्रस्तुत करना होगा। भारतीय संस्कृति, इतिहास, कला और साहित्य के सम्बन्ध में अनुसंधान, प्रकाशन और ग्रन्थ-प्रणयन का समस्त उत्तरदायित्व हिन्दी भाषा को उठाना होगा। यह हिन्दी की पद-प्रतिष्ठा के अनुकूल है। दूसरे संस्कृत-साहित्य में जितना भी ज्ञान-विज्ञान, सांस्कृतिक जीवन की सामग्री और साहित्यिक रस है उसे हिन्दी के माध्यम से प्रकट करना होगा। तभी हमारे राष्ट्र की सांस्कृतिक परम्परा अविच्छिन्न रहेगी। 'ऋग्वेद' से लेकर पतंजलि के 'महाभाष्य' तक, एवं 'महाभारत' से लेकर मम्मट के 'काव्यप्रकाश' तक समस्त संस्कृत-वाङ्मय का अवतार हिन्दी को होना चाहिए। इसी प्रकार बौद्ध संस्कृत-साहित्य, प्राकृत और अपभ्रंश की उपलब्ध सामग्री हिन्दी में आनी उचित है। किसी युग में मध्य-एशिया से यवद्वीप तक संस्कृत का क्षेत्र था। संस्कृत न केवल भारत की राष्ट्रभाषा थी, बल्कि एशिया की अन्तर्राष्ट्रीय भाषा भी थी। अब स्वदेश में यह स्थान हिन्दी को मिला है अतएव हिन्दी का कर्तव्य भी उतना ही विस्तृत है। सौभाग्य से संस्कृत-भाषा शब्द-रचना और भावों की दृष्टि से कामधेनु है। यही हिन्दी के अभ्युदय के मार्ग में बड़ा विश्वास है। संस्कृत के प्रति अपना मनोभाव हमें स्वच्छ कर लेना चाहिए। राष्ट्रीय संविधान ने इस निश्चय पर मुहर लगा दी है कि हिन्दी की वैज्ञानिक शब्दावली संस्कृत से ली जायगी। विज्ञान-सम्बन्धी लाखों शब्दों का हमें निर्माण करना है। यूरोप ने ग्रीक और लैटिन से अपने शब्द बनाए हैं, किन्तु संस्कृत शब्द-रचना की क्षमता में इन दोनों भाषाओं से कहीं बढ़ी-चढ़ी है। उसकी दो सहस्र धातु, उपसर्ग और प्रत्यय अनन्त सुन्दर शब्दों की रचना कर सकते हैं। संस्कृत का बल लेकर हिन्दी अपने भारी उत्तरदायित्व को सहर्ष वहन करती हुई वैदिक शब्दों में कह सकती है :

गुरुर्भारो वक्षुर्मेव।

देवेन्द्र सत्यार्थी

हिन्दी साहित्य पर लोक-साहित्य का प्रभाव

किसी भी देश का लोक-साहित्य जहाँ जनता की मूर्त चेतना और उसके गतिशील उत्साह, विश्वास तथा संघर्ष का परिचायक होता है, वहाँ वह जनता के आत्म-मुखर जीवन का प्रतीक और मनुष्य की साधारण बोल-चाल की भाषा के अनगढ़पन और सजीवता की विजय-यात्रा की दुँदुभि बजाता हुआ आगे बढ़ता है : इसके हर बोल में अनेक शताब्दियों की संचित अनुभव-राशि, एक-एक शब्द को टटोलती हुई, मनुष्य की बोली की पताका फहराती हुई, सामाजिक प्रयत्नों और उनसे सम्बद्ध मानव-चेतना की अभिव्यक्ति को सीधी-सादी और सरल भावधारा का रूप देती हुई जनता के भावी जीवन के लिए पथ-प्रदर्शक का कार्य करती है। लोक-साहित्य का खरापन बाह्य आडम्बर से बचकर चलता है; मिथ्या अलंकरण इसे एक आँख नहीं भाते। सहजता ही इसकी सबसे बड़ी विशेषता होती है। साथ ही यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि लोक-साहित्य भावना-शून्य रूप से बजने वाले ग्रामोफोन की तरह नहीं होता; उसकी आवाज सीधी जनता के परम्परा-स्रोत से आती है; मानव की बोलती-गाती परम्पराओं की वाणी के रूप में लोक-साहित्य में यह क्षमता होती है कि वह जीवन को उसके समूचे सामंजस्य के साथ देखे और उस पर टिप्पणी करते समय एक ऐसा परामर्श दे जिससे मानव को शताब्दियों के संघर्ष में सफलता प्राप्त हो सके। इसीलिए लोक-साहित्य की स्थिति मात्र साइनबोर्ड की-सी भी नहीं होती : सामाजिक सम्बन्धों से सदैव प्रेरणा प्राप्त करने वाला साहित्य कभी साइनबोर्ड-सी निर्जीव वस्तु नहीं हो सकता। लोक-साहित्य मानव के निरन्तर जीवित रहने की चेतना का प्रतीक है : मानव यदि आत्म-समर्पण करना चाहता है तो जीवन के सत्य के सम्मुख; जिसे वह बार-बार खोजता है, बार-बार परखता है, केवल घिसे-पिटे सिक्के के रूप में नहीं, बल्कि गतिमान मार्ग-दर्शन के रूप में सत्य के प्रति मानव की पहचान ठीक कोण ढूँढने में संलग्न रहती है। परिश्रम के साथ लोक-साहित्य का शताब्दियों का सम्बन्ध है, क्योंकि देश-देश में शत-शत, सहस्र-सहस्र गान विभिन्न धन्धों की गलियों में पनपते हैं और जीवित रहते हैं; माँझी हो चाहे किसान; चरखा कातने वाली स्त्री हो चाहे पनिहारी; मछुआ हो चाहे जुलाहा; चरवाहा हो चाहे धोबी—सभी अपने गान द्वारा परिश्रम के बोझ को हल्का करने की चेष्टा करते नजर आयेंगे। ये गान अखबार की सुर्खियों की तरह उभरते हैं, क्योंकि पुराने बोल समय की नब्ज पहचानने का दायित्व निभाते हैं और इस चेष्टा में कुछ-न-कुछ नूतनता भी अवश्य आ जाती है; नये बोल भी पुरानी लय में खुद-ब-खुद ढलते चले जाते हैं। जीवन के देखे-समझे संघर्ष के स्वर निरन्तर लोक-साहित्य को वाणी देते आए हैं; कभी ये स्वर एक व्यंग्य में प्रकट होते हैं, कभी एक अट्टहास में, कभी कोमलता में, कभी एक विवेकशील परामर्श के रूप, में जो भीड़ के भारी-भरकम शोर और चीत्कार से ऊपर उठकर पहले से अधिक सुन्दर और सुखद जीवन की स्थापना में मानव के विश्वास और परिश्रम की सार्थकता सिद्ध करता है।

लोक-साहित्य के अन्तर्गत मौखिक परम्परा का प्रत्येक रूप आ जाता है। लोक-कथाएँ और लोक-गीत, लोकोक्तियाँ और बुझौवल, टोने-टोटके और मन्त्रोच्चार और लोकवार्ता से सम्बद्ध अनेक रूढ़िगत संस्कृति-सूत्र और लोकाचार—सभी मिलकर एक बहुत बड़ा मंच प्रस्तुत करते हैं। लोक-साहित्य के अनेक पात्र भी अध्ययन की सामग्री प्रस्तुत करते हैं। ये पात्र कल्पित भी हो सकते हैं और ऐतिहासिक भी; जीवन के शान्त प्रवाह में ऐसे अवसर भी आते हैं जब कुछ लहरें ऊँची उठकर विशेष पात्रों को जन्म देती हैं। ये लहरें कभी सौन्दर्य-चेतना की प्रतीक होती हैं तो कभी वर्ग-चेतना की परिचायक। अलौकिक शक्तियों के प्रतीक देवी-देवताओं का रूप धारण करके जनता के सम्मुख आते हैं। विभिन्न पात्रों की गाथा सांस्कृतिक जय-पराजय की गाथा के रूप में महत्त्व प्राप्त करती है। समय-समय पर विभिन्न संस्कृतियाँ परस्पर टकराकर आदान-प्रदान करने पर मजबूर होती हैं; लोक-साहित्य के पात्रों पर भी विभिन्न संस्कृतियों के संघर्ष से उत्पन्न हुई मिश्रित और संकर संस्कृति की छाप पड़ती है। जीवन-स्रोतस्विनी का कल-कल निनाद इस संकर संस्कृति को भी मानवता के मूल स्वरों द्वारा सजीवता और उर्वरता प्रदान करता है जिसके लिए मानव की सृजन-चेतना सदैव प्रयत्नशील रही है। विभिन्न जन-समूह और वर्ग लोक-साहित्य को जन्म देते हैं और फिर इसकी प्राणदा शक्ति से स्वयं गौरवान्वित होते हैं।

शुद्ध नागरिक साहित्य, लोक-साहित्य से हटकर, अपने लिए पृथक् मार्ग ढूँढता है : देश-देश के साहित्य के जन्म और विकास की गाथा नागरिक-संस्कृति के पद-चिह्नों पर अग्रसर होती है। लोक-साहित्य की मातृ-भूमि शुद्ध नागरिक साहित्य को प्रभावित करती है : जनता मूक रहकर नागरिक साहित्य की ओर देखती है, किस प्रकार उसकी सर्वग्राहिणी सामूहिक प्रतिभा शुद्ध नागरिक साहित्यकारों की कृतियों को उनकी शिक्षा और मर्यादा-सिद्ध सांस्कृतिक तथा सामाजिक चेतना के रहते हुए भी अपने प्रभाव की परिधि में खींच लेती है, किस प्रकार जनता इन कवियों और अन्य लेखकों के विचारों पर ही नहीं उनकी कृतियों की शैली पर भी अपनी छाप लगाती है—यह एक लम्बी प्रक्रिया है। रवीन्द्रनाथ के कथनानुसार "'शकुन्तला' और 'कुमार सम्भव' में कालिदास की लेखनी का कौशल दृष्टिगोचर होता है; पर 'रामायण' और 'महाभारत' हिमालय और गंगा के समान ही, भारत के प्रतीत होते हैं—व्यास और वाल्मीकि तो उपलक्ष्य-मात्र हैं। इनके पढ़ने से भारत झलकने लगता है, व्यास और वाल्मीकि नहीं।"[१] रामायण और महा-भारत के सम्बन्ध में रवीन्द्रनाथ टाकुर फिर कहते हैं : "शताब्दियों-पर-शताब्दियाँ बीतती चली जाती हैं किन्तु 'रामायण' और 'महाभारत' का स्रोत भारत में नाम को भी शुष्क नहीं होता। प्रति-दिन गाँव-गाँव, घर-घर, उनका पाठ होता रहता है। क्या बाजार की दुकानों पर और क्या राज द्वारों पर सर्वत्र उनका समान भाव से आदर होता है। वे दोनों महाकवि धन्य हैं, जिनके नाम तो काल के महाप्रान्तर में लुप्त हो गए हैं, पर जिनकी वाणी आज भी करोड़ों नर-नारियों के द्वार-द्वार पर अपनी निरन्तर प्रवहमान धाराओं से शक्ति और शान्ति पहुँचाती फिरती है और सैकड़ों प्राचीन शताब्दियों की उपजाऊ मिट्टी को प्रतिदिन बहाकर भारत की चित्त-भूमि को उर्वरा बनाए हुए है।"[२]

यह 'शताब्दियों की उपजाऊ मिट्टी' लोक-साहित्य की प्रेरणा से मुक्त नहीं होती : जनता

१. रवीन्द्रनाथ ठाकुर, 'प्राचीन साहित्य', पृष्ठ २।
२. वही, पृष्ठ ३।

की साधना इस मिट्टी के एक-एक कण में विद्यमान रहती है, क्योंकि जनता ही देश और काल को वाणी का वरदान देती आई है। शुद्ध नागरिक-साहित्य के निर्माता भाषा की जिस टकसाल से शब्द लेते हैं उसके साथ जनता का सीधा सम्पर्क कम होता जाता है, फिर भी उनकी भाषा से जनता की छाप एकदम मिटती नहीं : लोक-साहित्य के हृदय-कमल की नितान्त उपेक्षा भी तो सहज नहीं होती, क्योंकि जनता की गौरव-गाथा, जिसकी अभिव्यक्ति लोक-साहित्य में पग-पग पर सुनने को मिलती है, शुद्ध नागरिक-साहित्य-निर्माताओं को भी बहुत-सी उपयोगी सामग्री प्रदान करती है।

हिन्दी-साहित्य पर लोक साहित्य के प्रभाव का सिंहावलोकन करने से पूर्व हमें हिन्दी-साहित्य के जन्म-काल[1] की धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों का अनुसन्धान करना होगा। हिन्दी-साहित्य का आदिकाल भाषा की दृष्टि से संक्रमण-काल था : लोक-व्यवहार की भाषा, प्राकृत अथवा अपभ्रंश, अपने प्रभाव-क्षेत्र से पद-च्युत हो रही थी और 'देश-भाषा' उसका स्थान ग्रहण कर रही थी। बंगला लिपि में महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री द्वारा प्रकाशित 'बौद्ध गान ओ दोहा' में सर्वप्रथम इस युग की रचनाएँ उपलब्ध होती हैं। यह तो सहज ही कहा जा सकता है कि वज्रयान शाखा के सिद्ध जहाँ संस्कृत में साहित्य-रचना पर अपना ध्यान केन्द्रित रखते थे, वहाँ वे अपभ्रंश-मिश्रित देश-भाषा में भी कविता के माध्यम द्वारा अपने विचार प्रदर्शित करते थे। दोहा छन्द उस समय तक केवल लोक-साहित्य की वस्तु रहा होगा : वज्रयान सिद्ध कवियों ने सर्वप्रथम उसे अपनाया और इसे हिन्दी-साहित्य पर लोक-साहित्य का सर्वप्रथम प्रभाव माना जा सकता है। इन कवियों की रचनाओं में दोहों के अतिरिक्त गान की रचना पर लोक-गीत की स्पष्ट छाप देखी जा सकती है। सिद्ध कण्हपा (सम्वत् ९०० के उपरान्त) आह्वान-गान में डोमिनी को यों सम्बोधित करते हैं :

नगर बाहिरे डोंबी तोहरि कुड़िया छइ
छोइ जाइ सो बाह्म नाड़िया।
आलो डोंबि ! तोए सम करिए म साँग।
निघिन कण्ह कपाली जोइ लाग ॥
एक सो पदमा चौषट्ठि पाखुड़ी।
तहि चढ़ि नाचअ डोंबी बापुड़ी ॥

---

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के मतानुसार संवत् १०५० से हिन्दी-साहित्य का आरम्भ हुआ; डॉक्टर काशीप्रसाद जायसवाल संवत् ९०० से और डॉ० रामकुमार वर्मा संवत् ७०० से ही हिन्दी-साहित्य का प्रारम्भ मानते हैं। बाणभट्ट के 'हर्ष चरित', में अन्यान्य भाषाओं के कवियों के साथ 'भाषा-कवि' का उल्लेख यह सिद्ध करता है कि संस्कृत; प्राकृत और अपभ्रंश से भिन्न उस समय जनता की देश-भाषा विद्यमान थी जिसे कुछ कवि अपना माध्यम स्वीकार कर चुके थे। डॉक्टर विनयतोष भट्टाचार्य ने सरहपा का समय संवत् ६९० स्वीकार किया है। वज्रयानी सिद्ध सरहपा की भाषा का निरीक्षण करने से ज्ञात होता है कि इसकी रूप-रेखा आज की हिन्दी का ही आदिकालीन रूप है। सरहपा की रचना का एक उदाहरण लीजिए :

जहि मन पवन न संचरइ, रवि ससि नाहिं पवेस।
तहिं वट चित्त विसाम करू, सरेहे कहिअ उवेस ॥

हालो डोंबी ! तो पुछमि सदभावे ।
अइससि जासि डोंबी काहरि नावे ॥

वज्रयानियों की विचार-धारा में एक प्रकार के 'महासुखवाद' का प्रतिपादन मिलता है। उपनिषद् में ब्रह्मानन्द की तुलना सहवास-सुख से सौगुने सुख से की गई थी, पर वज्रयानी इससे कहीं आगे बढ़कर निर्वाण-सुख की कल्पना सहवास-सुख में करने लगे।[1] इसी भावना को लेकर देवताओं और शक्तियों के 'युग्नद्वय' रूप की कल्पना की गई और इस विचार-धारा से प्रभावित मूर्तिकारों ने सहवास की अनेक मुद्राओं में अनेक नग्न मूर्तियों की सृष्टि कर डाली। वज्रयानी सिद्ध कवि अपनी रचनाओं की भाषा को 'सन्ध्या भाषा' घोषित करते थे।[2] कण्हपा का आह्वान-गान इसी पृष्ठभूमि पर उभरता है। एक स्थल पर यह प्रतिपादित करते हुए कि साधक शून्य में लीन होकर 'महासुह' (महासुख) प्राप्त करता है, पानी में नमक के विलीन होने की तुलना देते हैं : 'जिमि लोण विलिज्जइ पाणिएहि तिमि घरणी लइ चित्त।' वज्रयानियों की 'सन्ध्या भाषा' पर जादू-टोने-तन्त्र का यथेष्ट प्रभाव था और यह बात भी स्मरण रखनी चाहिए कि इस भाषा में 'भइले' और 'बूड़िली' आदि पूरबी शब्द भी मिले हुए थे जो इन कवियों के मगध में रहने और जनता के निकट सम्पर्क के प्रतीक थे।

वज्रयानी सिद्ध कवियों की भाषा में लोक-कवियों का-सा प्रवाह है, चाहे यह सरहपा की बानी हो, जो दक्षिण मार्ग छोड़कर वाम मार्ग ग्रहण करने का आदेश देते हैं, चाहे यह तौंतिया की बानी हो, जो लोक-साहित्य के अन्तर्गत पनपने वाली बुझौवल या पहेली की शैली का कला-पूर्ण सम्मिश्रण प्रस्तुत करते हैं :

नाद न बिंदु न रवि न शशि मंडल। चिअराअ सहावे मूकल।
उजु रे उजु छाडि मा लेहु रे बंक। निअहि बोहि मा जाहु रे लंक॥

—सरहपा : संवत् ६६०

बेंग संसार बाढ़हिल जाअ। दुहिल दूध के बेंटे समाअ।
बलद बिआएल गविआ बाँझे। पिटा दुहिए एतिना साँझे।
जो सो बुज्झी सो धनि बुधी।
जो सो चोर सोइ साधी।
निते-निते षिआला षिआला षिहे षम जूझअ।
ढेंढ पाएर गीत बिरले बूझअ॥

—तौंतिया

वज्रयानी सिद्धों की संख्या चौरासी मानी जाती है। वज्रयानी सिद्ध नागार्जुन (संवत्

---

१. "रहस्य या गुह्य की प्रवृत्ति बढ़ती गई और 'गुह्य समाज' या 'श्री समाज' स्थान-स्थान पर होने लगे। ऊँचे-नीचे कई वर्णों की स्त्रियों को लेकर मद्य-पान के साथ अनेक वीभत्स विधान वज्रयानियों की साधना के प्रधान अंग थे। सिद्धि प्राप्त करने के लिए किसी स्त्री का (जिसे शक्ति, योगिनी या महामुद्रा कहते थे) योग या सेवन आवश्यक था।" रामचन्द्र शुक्ल, 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास', पृष्ठ १४।

२. वही पृष्ठ १२।

७०२) ने सिद्ध-परम्परा का परित्याग करते हुए नाथ-सम्प्रदाय का आरम्भ किया। 'गोरक्षा-सिद्धान्त-संग्रह' के अनुसार नाथ-सम्प्रदाय के नौ मार्ग-प्रवर्तक हुए : नागार्जुन, जड़ भरत, हरिश्चन्द्र, सत्यनाथ, भीमनाथ, गोरखनाथ,[1] चर्पट, जलंधर और मलयार्जुन। इस नामावलि में नागार्जुन के अतिरिक्त गोरखनाथ, चर्पट और जलंधर भी चौरासी वज्रयानी सिद्धों के अन्तर्गत माने जाते हैं।

लोक साहित्य पर नाथ-सम्प्रदाय के कनफटे जोगियों[2] का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। आज भी गाँव-गाँव घूमकर सारंगी पर गीत गाने वाले जोगी राजा गोपीचन्द के गीत गाते मिलेंगे, जिनकी माता मैनावती को गोरखनाथ की शिष्या के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। उत्तर-प्रदेश में गोपीचन्द के गीत बहुत लोकप्रिय हैं (बंगाल में भी, जहाँ गोपीचन्द चाटिगाँव के राजा थे, गोपीचन्द और मैनावती के लोकगीत प्रचलित हैं)।[3] जोगियों के चमत्कार इतने लोकप्रिय हुए कि अनेक लोक-कथाओं में एक विशिष्ट पात्र के रूप में जोगी का चरित्र अभिनन्दनीय समझा गया।

पश्चिमी राजस्थानी अपभ्रंश में जैन-आचार्यों की कृतियों में दोहा छन्द की प्रतिष्ठा फिर से हमारा ध्यान आकर्षित करती है। हेमचन्द्र ने (संवत् ११५०–१२३०) अपने बृहत् व्याकरण 'सिद्ध हेमचन्द्र शब्दानुशासन' में संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश तीनों भाषाओं को अध्ययन का विषय बनाया है; उन्होंने अनेक दोहे प्रस्तुत करते हुए अपभ्रंश की श्री-वृद्धि का प्रमाण दिया है।

हेमचन्द्र द्वारा उद्धृत दोहों में से तीन उदाहरण लीजिए :

१. वायसु उड्डावंतिअऍं पिउ दिट्ठउ सहसत्ति।
अद्धा वलया महिहि गय, अद्धा फुट्ट तड्त्ति॥ ८।४।३५२।

२. जइ भग्गा पारक्कडा तो सहि मुज्झु पिएण।
अह भग्गा अम्हहँतणा तो ते मारिअडेण॥ ८।४।३७८।

३. पुत्तें जाएं कवणु गुणु अवगुणु कवणु मुएण।
जा बप्पीकी भुंहडी चंपिज्जइ अवरेण॥ ८।४।३९५।

ये तीनों दोहे राजस्थान में आज भी प्रचलित हैं; भाषा बदल गई, भाव-भूमि वही रही :

१. काक उड़ावण धण खड़ी आयो पीव भड़क्क।

---

१. 'महमूद गज़नवी के भी कुछ पहले सिन्ध और मुलतान में कुछ मुसलमान बस गए थे जिनमें कुछ सूफी भी थे। बहुत से सूफियों ने भारतीय योगियों से प्राणायाम आदि की क्रियाएँ सीखीं, इसका उल्लेख मिलता है। अतः गोरखनाथ चाहे विक्रम की १०वीं शताब्दि में हुए हों चाहे १३वीं में, उनका मुसलमानों से परिचित होना अच्छी तरह माना जा सकता है'''उन्होंने अपने पन्थ का प्रचार पंजाब और राजपूताने की ओर किया।" रामचन्द्र शुक्ल, 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास', पृष्ठ १६

२. कान की लौ में बड़े-बड़े छेद करके दोनों ओर स्फटिक के कुण्डल पहनने की प्रथा नाथ-सम्प्रदाय के जोगियों की विशेषता रही है।

३. पंजाबी साहित्य में वारिसशाह की सुविख्यात काव्य-कृति 'हीर' में हीर के विवाह के पश्चात् हीर का प्रेमी राँझा गोरखनाथ से जोग लेकर एक जोगी के वेश में हीर की ससुराल में पहुँचता है।

आधी चूकी काल गल आधी गई तड़क्क ॥
२. जो भग्गा पारक्कड़ा तो सखि मुज्झ पियेण ।
जो भग्गा अम्हे-तणा तो तिह मुज्झ पवेण ॥
३. बेटा जायां कवण गुण अवगुण कवणु धियेण ।
जां ऊभां घर आपणी गंजीजै अवरेण ॥

किस प्रकार समय के साथ-साथ लोक-साहित्य की भाषा बदलती रहती है, हेमचन्द्र द्वारा उद्धृत अन्य अनेक दोहों के वर्तमान राजस्थानी रूप से इसका यथेष्ट परिचय मिलता है।

चन्दबरदाई (संवत् १२२५-१२४६) के 'पृथ्वीराज रासो'[1] के आरम्भ में अग्निकुण्ड से चार क्षत्रिय-कुलों की उत्पत्ति की गाथा पर लोक-वार्ता की छाप दृष्टिगोचर होती है; कवित्त (छप्पय), दोहा, तोमर, त्रोटक, गाहा और आर्या इस महाकाव्य के मुख्य छन्द हैं। जगनिक (संवत् १२३०) के गीत-काव्य 'आल्हा खण्ड'[2] की कोई मूल प्रति किसी पुस्तकालय में सुरक्षित नहीं मिलती; संवत् १९३७ में फर्रुखाबाद के कलेक्टर चार्ल्स इलियट ने अनेक भाटों की सहायता से इसे लिपिबद्ध कराकर प्रकाशित किया। बैसवाड़ा में आल्हा-गायकों का मेघ-गर्जन बहुत ही लोकप्रिय है; महोबे के समीप बुन्देलखण्ड में भी इसका कुछ कम प्रचलन नहीं, जब वर्षा ऋतु के मेघ-गर्जन में आल्हा-गायक ढोल की थाप पर गा उठते हैं :

बारह बरिस लै कूकर जीएँ, औ तेरह लै जिएँ सियार ।
बरिस अठारह छत्री जीएँ, आगे जीवन के धिक्कार ॥[3]

अमीर खुसरो (संवत् १३१०-१३८१) की रचनाएँ शत-प्रतिशत लोक-साहित्य से प्रभावित हैं। हिन्दी के इतिहास में पहली बार एक कवि हमारे सम्मुख आता है जिसमें बोल-चाल की भाषा में काव्य-रचना का साहस नजर आता है। यह लोक-साहित्य की विजय थी। साहित्यिक रूढ़ियाँ अपनाने की बजाय खुसरो ने वैसी ही पहेलियाँ और दोहे लिखने की कोशिश की जिन्हें जनता का कंठ स्वीकार कर सकता था। 'कह मुकरनी' और 'दो सखुने' की शैली खुसरो के मस्तिष्क की उपज थी, पर जिस जन-सम्पर्क की छाप यहाँ नजर आती है वह लोक-साहित्य के सीधे प्रभाव का परिणाम है। 'अम्मा, मेरे बाबा को भेजोजी कि सावन आया!'—यह खुसरो के

---

१. "'पृथ्वीराज रासो' ढाई हजार पृष्ठों का बहुत बड़ा ग्रन्थ है...जैसे 'कादम्बरी' के सम्बन्ध में प्रसिद्ध है कि उसका पिछला भाग बाण के पुत्र ने पूरा किया है वैसे ही 'रासो' के पिछले भाग का भी चन्द के पुत्र जल्हण द्वारा पूरा किया जाना कहा जाता है।" रामचन्द्र शुक्ल, 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास', पृष्ठ ४७-४८।

२. "वह गाने के लिए ही रचा गया था इससे पंडितों और विद्वानों के हाथ इसकी रक्षा की ओर नहीं बढ़े, जनता ही के बीच इसकी गूँज बनी रही—पर यह गूँज-मात्र है, मूल शब्द नहीं।" वही, पृष्ठ ६३।

३. कालिंजर के राजा परमाल के भाट जगनिक ने महोबा के सुप्रसिद्ध वीरों—आल्हा और ऊदल—के सम्बन्ध में जो गीत-काव्य लिखा, उसकी भाषा इससे कितनी भिन्न रही होगी, यह कहना सहज नहीं। इस गीत-काव्य का मूल रूप देश-काल के अनुसार बदलता चला गया, यहाँ तक कि बन्दूक और किरिच-जैसे नये अस्त्रों और फिरंगी-जैसी जातियों के नाम भी सम्मिलित होते चले गए।

एक गीत की प्रथम पंक्ति है : इसे हू-ब-हू लोक-गीत भी कह सकते हैं, क्योंकि दिल्ली के समीपवर्ती ग्रामों में सावन के बहुत से गीत यही शैली लिये हुए हैं। 'गोरी सोवै सेज पर, मुख पर डारे केस। चल खुसरो घर आपने, रैन भई चहुँ देस।'—यह खुसरो का एक दोहा है, जिसकी शैली ग्रामीण जनता में प्रचलित लोक-साहित्य के अन्तर्गत आने वाले दोहों से किसी भी तरह भिन्न नहीं है।

विद्यापति (संवत् १४२५–१५३२) ने घोषणा की :—'देसिल बअना सब जन मिट्ठा, तें तैसन जम्पओं अवहट्ठा' (देश-भाषा सभी को मीठी लगती है, इसलिए वैसा ही अपभ्रंश मैं कहता हूँ)। विद्यापति की पदावली के गीत जयदेव से प्रभावित माने जाते हैं, पर इस शृङ्गार-काव्य पर सर्वग्राहिणी लोक-प्रतिमा की इतनी गहरी छाप है कि वे मैथिल लोक-गीतों के सदृश ही लोकप्रिय हैं, बल्कि इनका प्रसार बंगाल का सीमान्त पार कर गया है।

कबीर (संवत् १४५५–१५५१) की अद्भुत प्रतिमा जहाँ दर्शनों, उपनिषदों और शास्त्रों का सार संचित करने में सफल हुई, वहाँ उन्होंने लोक-साहित्य के अनुरूप एक प्रकार की सधुक्कड़ी भाषा में अनेक दोहों की रचना की; उनके पद ब्रज-भाषा और पूरबी में हैं। निर्गुण धारा की इस ज्ञानाश्रयी शाखा के साथ-साथ प्रेममार्गी (सूफी) शाखा का प्रादुर्भाव हुआ और मलिक मुहम्मद जायसी (संवत् १५५०–१६००) का 'पद्मावत' दोहों और चौपाइयों की शैली में अवधी भाषा में लिखा गया। 'पद्मावत' की वर्णन-शैली अनेक स्थलों पर लोक-साहित्य के समीप है, 'सारस पंखि नहिं जिये निरारे, हौं तुम बिन का जियों पियारे' या 'छोरे केश मोति लट लूटी, जानो रयनि नखत सब छूटी।' फिर गोस्वामी तुलसीदास ने (संवत् १५५४–१६८०) जायसी द्वारा संस्थापित दोहों और चौपाइयों के माध्यम को आगे बढ़ाते हुए 'रामचरित मानस' की रचना की। 'स्याम सुरभि पय बिसद अति करहिं गुणीजन पान, गिरा ग्राम सिय राम जस गावहिं सुनहिं सुजान'[1]—कहकर उन्होंने यह दर्शाने का यत्न किया कि जैसे श्याम सुरभि का दूध व्यापक रूप से गुणी जनों द्वारा पिया जाता है वैसे ही ग्रामीण भाषा में लिखी गई यशोगाथा सुजान मनुष्यों द्वारा गाई और सुनी जाती है। एक और स्थल पर देश-भाषा के माध्यम को हीन भाव से बचाते हुए तुलसीदास को कहना पड़ा :—'का भाषा का संस्कृत प्रेम चाहिए साँचु, काम जु आवे कामरी का लै करै कुमाँचु'। 'रामचरितमानस' में राम-भक्ति को लोक-प्रवृत्तियों के अनुरूप ढाला गया। 'रामललानहछू' की रचना सोहर छन्द में प्रस्तुत करते हुए तुलसीदास ने पुत्र-जन्मोत्सव पर गाँव-गाँव गाये जाने वाले सोहर-गीतों के लय-ताल का अभिनन्दन किया; नहछू (संस्कृत नखक्षुर, नाखून काटना) विवाह-समय की एक रीति है जिसके अनुसार यह विधान है कि माता वर को गोद में लेकर उसके नाखून कटवावे। भक्ति-काल के काव्य में सूर (संवत् १५४०–१६२०) ने कृष्ण-चरित्र को अपनाया। मीराबाई (संवत् १५७३–१६०३) ने भी अपने गीतों में इसी पथ का अनुसरण किया। सूर और मीरा के कृष्ण 'महाभारत' और 'भागवत' के कृष्ण से कहीं अधिक सर्वग्राहिणी लोक-संस्कृति के अनुरूप हैं : मीरा के गीत लोक-गीतों के समान ही गाँव-गाँव घूमने वाले गायकों द्वारा गाये जाते हैं, अनेक स्थलों पर भाषा को भी गायकों ने अपने अनुसार ढाल लिया है।

उत्तर मध्यकाल (संवत् १७००–१६००) के कवि रीति-ग्रन्थों के निर्माण में लोक-पक्ष से दूर हटते गए। बिहारी, देव और मतिराम आदि शृङ्गारिक कवियों ने जहाँ नायिका का नख-शिख

१. 'तुलसी ग्रन्थावली, भाग १, दोहावली, पृष्ठ १०० (नागरी प्रचारिणी संस्करण)

सँवारा वहाँ व्यक्तिगत प्रवृत्तियों पर इतना ज़ोर दिया कि उनकी दृष्टि में 'गँवई गाहक'[1] एकदम बुद्धू बनकर रह गए। इसी काल में वीर रस के कवि भूषण भी लोक-साहित्य से तनिक भी प्रेरणा न ले पाए। इस युग का दरबारी कवि जनता से इतना दूर जा पड़ा था कि उसके लिए यह सोचना भी कठिन हो गया कि साहित्य का आदि-स्रोत तो जनता का निरन्तर संघर्षमय जीवन है। रीति-काल के कुछ कवि फिर से भक्ति-काव्य की ओर आकृष्ट हुए, पर इनमें से किसी के यहाँ लोक-पक्ष की प्रेरणा नज़र नहीं आती।

आधुनिक काल में लोक-साहित्य से प्रेरणा प्राप्त करने की जो चेष्टा बंगला-साहित्य में दृष्टिगोचर होती है उसका हिन्दी में अभाव बहुत खटकता है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपने अनेक गान बंगला के लोक-गीतों के आधार पर प्रस्तुत किये, बंगला के बाउल और भाटियाल गान उनके नूतन गीतों के लिए एक नया द्वार खोलने में समर्थ हुए। गान की भाषा का एक नया ढाँचा खड़ा करने में उन्हें वह सफलता कभी न मिली होती यदि लोक-संगीत के स्वर उनकी हृदय-वीणा को झंकृत न कर पाते।

हिन्दी का कोई कवि यह दावा नहीं कर सकता कि लोक-संगीत से प्रेरणा प्राप्त करने की ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया है: पन्त की 'ग्राम्या' में कहीं-कहीं लोक-नृत्यों का दृश्य उभरता है; ग्राम-देवता की भर्त्सना और ससुराल जाती ग्रामवधू के आँसू कवि का ध्यान खींचते हैं, पर गाँव का चेहरा शुद्ध नागरिक भाषा के नीचे ढका रहता है। निराला कुछ स्थलों पर गाँव के हृदय को छूने के साथ-साथ लोक-संगीत का अंचल थामते प्रतीत होते हैं। 'कुकुरमुत्ता', 'मँहगू मँहगा रहा' और 'कुत्ता भौंकता रहा' में जीवन का जो व्यंग्य नज़र आता है, जनता की विवशता और एकदम जाग-कर खड़े हो जाने की प्रवृत्ति निराला को एक जन-कवि के रूप में हमारे सामने लाती है।

कथा-साहित्य में चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की सुविख्यात कहानी 'उसने कहा था' में सर्व-प्रथम लोक-गीतों को महत्त्वपूर्ण सामग्री के रूप में उपयोग में लाने की क्षमता नज़र आती है; एक लोक-भाषा के ठेठ शब्द किस प्रकार कहानी का वातावरण तैयार करने में जुटाये जा सकते हैं, इसका रहस्य गुलेरी जी की लेखनी खूब समझ पाई थी। प्रेमचन्द ने अपनी रचनाओं में उतना शहर को नहीं लिया जितना गाँव को: हम देखते हैं कि शहर और गाँव की छूट बहुत-कुछ मिट गई है। वस्तुतः इस युग का शहरी गाँव की महत्ता को समझ रहा है; और गाँव भी जैसे फिर से जाग रहा हो और जीवन की नई उपयोगी वस्तुओं को पाने के लिए उत्सुक हो उठा हो। वृन्दावनलाल वर्मा को भी अपने निकटवर्ती लोक-जीवन से प्रेरणा मिली, यद्यपि इसे लोक-साहित्य की छाप तो नहीं कह सकते।

आधुनिक युग की एक विशेषता है लोक-साहित्य का संग्रह और अध्ययन।[2] यह आशा

---

१. 'कर लै सूँघि सराहि कै सबै रहे गहि मौन। गन्धी गन्ध गुलाब को गँवई गाहक कौन॥' (बिहारी)

२. रामनरेश त्रिपाठी ने इस दिशा में 'कविता कौमुदी' (पाँचवाँ भाग: ग्राम-गीत) के द्वारा पथ-प्रदर्शन किया; सूर्यकरण पारीक, रामइकबाल सिंह 'राकेश', श्यामाचरण दुबे, डॉ० सत्येन्द्र, श्याम परमार और रामनारायण उपाध्याय आदि महानुभावों ने लोक-गीतों के संग्रह और अध्ययन में बहुत कार्य किया है। लोक-कथाओं के संग्रह में शिवसहाय चतुर्वेदी और डॉ० सत्येन्द्र का कार्य महत्त्वपूर्ण है।

की जा सकती है कि इसका प्रभाव हमारे नये लेखकों और कवियों पर अवश्य पड़ेगा। रामनरेश त्रिपाठी ने अनेक लोक-गीत गाँव की झोली से बटोरकर साहित्य के प्रांगण में प्रस्तुत किये, पर उस समय तक उनकी काव्य-रचना का समय कदाचित् चुक गया था, नहीं तो यह आशा की जा सकती थी कि वे लोक-काव्य से प्रेरणा प्राप्त करके नूतन काव्य की सृष्टि करते; रामइकबालसिंह 'राकेश' भी कवि के अतिरिक्त लोक-गीत-संग्रहकर्ता हैं, पर उनकी कविता पर लोक-काव्य की छाप कहीं नजर नहीं आती। कवि को जहाँ भी नये स्वर नजर आयें उन्हें साहित्य के प्रांगण में लाना उसका दायित्व होना चाहिए। साहित्य में लोक-कंठ और खेत की मिट्टी को उचित स्थान मिलना चाहिए। ज्यों-ज्यों साहित्य में मानव-जय का शंखनाद होगा, लोक-साहित्य की मानवतावादी आवाज का अधिक-से अधिक स्वागत होगा। इस दृष्टि से ठाकुरप्रसादसिंह का प्रयत्न स्तुत्य है : सन्थाल लोक-गीतों को उनके स्वर और लय के साथ हिन्दी रूपान्तर में प्रस्तुत करने की चेष्टा एक स्वस्थ प्रवृत्ति की सूचक है। उनका सन्थाल-गीत लीजिए :

पाँच जोड़ बंसरी
वासन्ती रात के विह्वल पल आखरी
पर्वत के पार से बजाते तुम बन्सरी
पाँच जोड़ बंसरी
बंशी स्वर घुमड़-घुमड़ रो रहा
जी है उठ चलने को हो रहा
धीरज की गाँठ खुली जो, लेकिन
आधे आँचल पर पिय सो रहा
मन पागल तोड़ रहा पंसरी
पाँच जोड़ बंसरी
पर्वत के पार से बजाते तुम बंसरी
वासन्ती रात के विह्वल पल आखरी
पाँच जोड़ बंसरी !

आधुनिक हिन्दी-कवियों में रामविलास शर्मा 'तार सप्तक' में उद्धृत कविताओं द्वारा कहीं-कहीं लोक-जीवन से निकटतम सम्पर्क स्थापित करने में सफल हुए हैं। केदारनाथ अग्रवाल 'युग की गंगा' में 'हवा हूँ हवा मैं बसन्ती हवा हूँ' कहते हुए आगे बढ़ते हैं : 'उतर कर भगी मैं हरे खेत पहुँची, वहाँ गेहुओं में लहर खूब मारी'—यों बसन्ती हवा अपनी गाथा सुनाती है, जैसे यह उसी बसन्ती रात की हवा हो जब सन्थाल लोक-गीत बसन्त-गान बन उठता है। त्रिलोचन की 'धरती' की घोषणा भी कुछ महत्त्वपूर्ण नहीं : 'तारकों की ज्योति चलकर भूमितल पर, आ रही है आ रही है आ रही है !' 'धरती' के पश्चात् त्रिलोचन के कुछ सानेट भी लोक-जीवन में साँस लेते हैं। नागार्जुन की 'धरती' शीर्षक कविता में जैसे स्वयं धरती अपने मुँह से बोलकर अपनी गाथा सुनाती है। गिरिजाकुमार माथुर और भवानीप्रसाद मिश्र की कुछ कविताओं में भी लोक-गीत की-सी माटी की सोंधी-सोंधी सुगन्ध मिलती है। यह देखकर हर्ष होता है कि जन-बोलियों में साहित्य-निर्माण की प्रेरणा भी हमारे कुछ कवियों को छू गई है : इस दिशा में बलभद्र दीक्षित 'पढ़ीस', वंशीधर शुक्ल, चन्द्रभूषण त्रिवेदी और मेघराज 'मुकुल' की कुछ रचनाएँ विशेष रूप से

उल्लेखनीय हैं।

नये कवियों में धर्मवीर भारती, शमशेरबहादुर सिंह और नरेशकुमार मेहता के प्रयत्न उल्लेखनीय हैं। उनके प्रयोग कहीं-कहीं लोक-पक्ष को लेकर चलते हैं और यों लगता है कि लोक-जीवन को एक नया कंठ मिल गया है।

कथा-साहित्य और उपन्यास के क्षेत्र में प्रेमचन्द के बाद लोक-पक्ष का उतना हाथ नजर नहीं आता : इसका सबसे बड़ा कारण है नागरिक जीवन की भूल-भुलैयों में साहित्यकार का खो जाना। आधुनिक बंगला-साहित्य में ताराशंकर वन्द्योपाध्याय गाँव का अंचल थामकर ही पग उठाते नजर आते हैं; पर हमारे अधिकांश कहानी-लेखक और उपन्यासकार जैसे गाँव का रास्ता ही भूल गए हों।

लोक-पक्ष और लोक-साहित्य की शक्तियों से ज्यों-ज्यों हमारे कवि और लेखक परिचित होते जायेंगे उनके साहित्यिक प्रयत्नों को लोक-परम्पराओं और जनता की आगे बढ़ती हुई शक्तियों से सदैव एक नई प्रेरणा मिलेगी, इसमें तो सन्देह की रत्ती-भर गुञ्जाइश नहीं। लोक-साहित्य में सदैव मानव के संघर्ष का प्रतिनिधित्व उभरा है : मानव की परख, क्षणिक को छोड़कर स्थायी को पकड़ में लेने का उसका निरन्तर प्रयत्न, सामाजिक शक्तियों का साथ देने की उसकी प्रवृत्ति, इतिहास के पहियों को तेज-तेज घुमाने की उसकी परम्परा—यह सब लोक-साहित्य की चिरन्तन थाती है। इसके प्रति आधुनिक साहित्यकार का क्या दायित्व है, इस प्रेरणा-स्रोत से वह क्या ले सकता है और इसे लेकर किस नूतन रूप में अपने वक्तव्य और कृतित्व का माध्यम बना सकता है, इसकी कुछ चिन्ता तो साहित्यकार को होनी ही चाहिए।

रामअवध द्विवेदी

यूरोपीय साहित्य का हिन्दी साहित्य पर प्रभाव

कई विचारकों का मत है, कि भक्तिकालीन हिन्दी-कविता का उद्गम जातीय अधःपतन तथा हताश जनता की नैराश्य भावना में था। यह मान्यता कठिन प्रतीत होता है कि आस्था और तन्मयता से ओत-प्रोत कबीर से लेकर सूरदास तक का भक्ति-काव्य हार तथा विदेशी शासकों के दुर्व्यवहार के कारण की उत्पन्न हुआ था। ईश्वर के प्रति जो सहज प्रेम तथा आध्यात्मिक सत्ता के प्रति जो स्वाभाविक खिंचाव उसमें विद्यमान है उसके मूल्यांकन के लिए हमें दूसरे ही तथ्यों की खोज करनी पड़ेगी। वेदों के काल से लेकर वैष्णव भक्तों के युग तक आध्यात्मिकता का जो अविरल स्रोत भारतीय जीवन और साहित्य में निरन्तर बहता हुआ मिलता है उसे हम कैसे भुला सकते हैं।

कबीर, जायसी, सूर और तुलसी की भक्ति केवल निराशा-जनित नहीं है, क्योंकि उसमें गम्भीर आध्यात्मिक अनुभव और असाधारण तन्मयता का अनुपम मेल मिलता है। भक्ति और काव्य दोनों की दृष्टि से इन सन्तों का युग अत्यन्त समृद्धि का काल था और इसीलिए भक्ति-काल को हम अपने साहित्य के इतिहास में गौरव का काल मानते हैं। भक्ति-काल का यह महत्त्व प्रायः सभी स्वीकार करते हैं, और इस सम्बन्ध में मतभेद की गुञ्जाइश भी बहुत कम है। १७वीं शताब्दी ई० के लगभग भक्ति-काल का साहित्यिक वैभव प्रायः लुप्त हो चुका था। १८वीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही हिन्दी-काव्य ने एक नया ढंग पकड़ा। भक्ति के स्थान पर शृङ्गार का आधिपत्य स्थापित हुआ, और काव्य अपनी स्वाभाविकता खोकर रूढ़िग्रस्त हो गया। इस ढर्रे की कविता में कुछ इनी-गिनी बातें एक बँधे हुए ढंग से कही जाती थीं और मौलिकता का प्रायः पूर्ण अभाव ही था। कविता जनसाधारण के आनन्द और उन्नयन का साधन न रहकर दरबार की वस्तु बन गई। कवि का स्थान दरबारी गवैयों, नाचने वालों तथा चाटुकारों के समकक्ष हो गया। काव्य की परिधि संकुचित हो गई और उसका प्रभाव जीवन की गहराई तक पहुँचने में असमर्थ था। यह सोचकर क्षोभ होता है कि मतिराम, बिहारी, देव, पद्माकर-ऐसे प्रतिभा-सम्पन्न महाकवि अपने युग की परिस्थितियों के कारण यथोचित महानता न प्राप्त कर सके। १८वीं शताब्दी ई० और १९वीं शताब्दी के प्रायः पहले ७० वर्षों में पतन का यह क्रम अबाध गति से चलता रहा। हिन्दी-साहित्य की इसी चरम अधोगति के समय १९वीं शताब्दी में यूरोपीय साहित्यिक प्रभाव का आगमन सर्वप्रथम हुआ। यदि किसी अन्य काल में यह विदेशी प्रभाव इस देश में आया होता तो उसकी सफलता इतनी सरलता और शीघ्रता से न होती, क्योंकि उसे हमारे बद्धमूल संस्कारों से लोहा लेना पड़ता, किन्तु १९वीं शताब्दी में उसके लिए रास्ता साफ था।

पोर्चगीज, डच, फ्रांसीसी तथा अँग्रेज सभी इस देश में व्यापार के सिलसिले से आये। आपस के संघर्ष में अँग्रेज विजयी हुए और उन्होंने धीरे-धीरे अपना राज्य इस देश में स्थापित

किया। अतएव अँग्रेज़ों से ही भारतीयों ने मुख्यतया पाश्चात्य जीवन का नया आदर्श प्राप्त किया और भारतीय साहित्य पर बहुत दिनों तक बहुत कुछ अँग्रेज़ी साहित्य का ही प्रभाव पड़ता रहा। बंगला, मराठी और गुजराती से अँग्रेज़ी साहित्य का निकट सम्पर्क लगभग १६वीं शताब्दी के मध्य से प्रारम्भ हुआ और फलतः इन भाषाओं के साहित्यों में नवीन विशेषताएँ आने लगीं। हिन्दी और अँग्रेज़ी का सम्पर्क कुछ विलम्ब से प्रारम्भ हुआ और इसका वास्तविक स्वरूप प्रायः १८७० के बाद ही दिखाई पड़ा। तब भी पाश्चात्य प्रभाव कई बातों में इसके पहले से ही परिलक्षित हो रहा था। अँग्रेज़ी शिक्षा का प्रचार सन् १८३४ ई० के बाद लगातार बढ़ता ही गया और अँग्रेज़ी की जानकारी के साथ-साथ अँग्रेज़ी-साहित्य से परिचय प्राप्त करना स्वाभाविक ही था। ईसाई मिशन के पादरियों ने कलकत्ता, आगरा, मिर्जापुर, बनारस तथा अन्य स्थानों पर छापेखाने खोले, जिनमें उन्होंने बाइबिल के गद्यानुवाद के सस्ते संस्करण छापकर उन्हें जनता तक पहुँचाया। उन्होंने स्कूली किताबें भी छापीं और इस प्रकार नवीन शिक्षा के विस्तार में बहुत बड़ी सहायता पहुँचाई। हिन्दी-गद्य के उद्भव और विकास का बहुत-कुछ श्रेय अँग्रेज पादरियों को है। अँग्रेज़ी गद्य से परिचित थे, और इसलिए भारतीय भाषाओं में गद्य का अभाव उन्हें खटकता था। इस कमी की पूर्ति के लिए तथा राजकीय कार्य और धर्म-प्रचार के सुभीते के लिए भी उन्होंने अपने प्रयत्न से बंगाली, मराठी, गुजराती तथा हिन्दी-गद्य के विकास में पूर्ण योग दिया। हिन्दी-गद्य के विकास का इतिहास लिखते समय हम खुसरो और रामप्रसाद निरंजनी का नाम गर्व से लिखते हैं, किन्तु यह मानने में संकोच न होना चाहिए कि अँग्रेज़ी गद्य के प्रभाव बिना हिन्दी-गद्य का जो विकास आज दिखाई पड़ता है वह संभव न था। प्रारम्भ से आज तक पग-पग पर हिन्दी-गद्य ने अँग्रेज़ी गद्य के आदर्श को स्वीकार किया है और जब कभी कुछ विद्वानों ने उस आदर्श से विमुख होकर प्राचीन संस्कृत-गद्य का उदाहरण अपने सामने रखा और उसका अनुकरण करने का प्रयत्न किया है, तब भाषा पंडिताऊ और दुरूह बनकर रह गई और उसकी सफाई नष्ट हो गई है।

प्रारम्भिक अवस्था में अंग्रेज़ी-साहित्य का प्रभाव किस प्रकार पड़ा इसका अनुमान हम बहुत-कुछ भारतेन्दु युग की कृतियों से कर सकते हैं। पहली मानसिक प्रतिक्रिया सम्मान तथा अनुसरण की थी। शेक्सपीयर, मिल्टन तथा १६ वीं शताब्दी के रोमांटिक कवियों और उपन्यासकारों के प्रति लोगों के मन में आदर का भाव था और उनकी कृतियों का अनुवाद अनेक यशस्वी लेखकों ने किया। भारतेन्दु ने 'मर्चेण्ट आफ वेनिस' का अनुवाद किया और बाबू श्रीनिवासदास ने 'रोमियो और जूलियट' का रूपान्तर 'रणधीर और प्रेममोहिनी' के रूप में प्रस्तुत किया। बाबू काशीनाथ खत्री ने 'लैम्ब' की कहानियों का और जयपुर के पुरोहित गोपीनाथ ने 'रोमियो जूलियट' 'एज यू लाइक इट' और 'मर्चेण्ट आफ़ वेनिस' के सुन्दर अनुवाद उपस्थित किए। इसी प्रकार और भी कई अनुवाद हुए। अंग्रेज़ी परिपाटी के ग्रहण करके हिन्दी-लेखकों व कवियों ने गद्य और पद्य में निबन्ध लिखे। गद्य-निबन्धों की दृष्टि से भारतेन्दु युग काफी भरा-पूरा है। इन निबन्धों के नमूने की कोई चीज हमारे पुराने साहित्य में नहीं मिलती। पद्य में लिखे हुए निबन्धों से अभिप्राय है उन पद्यबद्ध कृतियों से जिनमें किसी एक विषय का वर्णन अथवा प्रतिपादन किया गया है। भारतेन्दु युग के कवियों ने पैराग्राफों में कविता लिखने की कला कदाचित्

मिल्टन अथवा १८ वीं शताब्दी के अँग्रेजी कवियों से सीखी थी। रोमांटिक कवियों का प्रभाव तीन प्रकार से लक्षित होता है। रोमांटिक कविता में प्रेम का विशेष महत्त्व है, चाहे वह स्त्री-पुरुष का प्रेम हो अथवा प्रकृति-प्रेम या देश-प्रेम। भारतेन्दु प्रवीण प्रेमी थे और उनकी कविता में प्रेम का विशेष महत्त्व है। उन्होंने जिस प्रेम का वर्णन किया है, उसमें तीव्रता और विह्वलता है केवल मतिराम अथवा बिहारी की कविता में वर्णित नायक-नायिकाओं की लुका-छिपी नहीं। प्रकृति-प्रेम का एक नया नमूना ठा० जगमोहन सिंह की कविता में मिलता है। प्रकृति का कार्य केवल कामोद्दीपन नहीं रह गया वरन् उसकी रमणीयता अब स्वतः हृदय में आनन्द उत्पन्न करने की क्षमता रखती है। प्रकृति का यह सीधा प्रभाव हमें अनायास अँग्रेजी के रोमांटिक कवियों की याद दिलाता है। तात्पर्य यह है कि भारतेन्दु युग में सर्वप्रथम अँग्रेजी साहित्य की कतिपय विशेषताओं का हिन्दी-साहित्य पर प्रभाव पड़ा और अनुवादों द्वारा हिंदी-भाषी जनता का सम्पर्क अंग्रेजी-साहित्य से बढ़ने लगा। साथ ही अँग्रेजी से बढ़ने लगा। साथ ही अँग्रेजी-शिक्षा का प्रसार भी बढ़ रहा था और दिन-पर-दिन स्कूलों और कालेजों में नवयुवक अँग्रेजी-साहित्य के अधिकाधिक निकट आ रहे थे।

बीसवीं शताब्दी के पहले २० वर्षों में अर्थात् द्विवेदी युग में अँग्रेजी पुस्तकों के अनुवाद का क्रम जारी रहा। बहुत से रास्ते अंग्रेजी-उपन्यास अनूदित हुए। पंडित श्रीधर पाठक ने खड़ी बोली कविता में गोल्डस्मिथ लिखित 'ट डिजर्टेड विलेज' तथा 'द ट्रैवलर' का अनुवाद किया। पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने Becon के निबन्धों के अनुवाद का कठिन कार्य सफलतापूर्वक सम्पादित किया, और पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय ने शेक्सपियर के The Merchant of Venice का अनुवाद 'वेनिस का बाँका' नाम से प्रस्तुत किया। इन प्रयासों से अँग्रेजी की बढ़ती हुई लोकप्रियता सिद्ध होती है किन्तु इस काल में अँग्रेजी का प्रभाव सबसे अधिक स्पष्ट रूप से गद्य के विकास में देखा जा सकता है। शब्दों के चयन और वाक्यों के निर्माण तथा भाषा-शैली के विकास में समान रूप से अँग्रेजी का प्रभाव लक्षित होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि अँग्रेजी-गद्य के नमूने सामने रखकर ही आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी-गद्य का रूप निर्धारित किया। उनकी अपनी भाषा की सफाई और सादगी बिलकुल तत्कालीन अँग्रेजी-गद्य के ढंग की है। अँग्रेजी के इस बढ़ते हुए महत्त्व और प्रभाव को देखकर कुछ हिन्दी-लेखक सहम उठे और उन्होंने प्राचीन भारतीय परिपाटी की महत्ता सिद्ध करने लिए प्रयत्न किया। गद्य के क्षेत्र में पं० गोविन्दनारायण मिश्र प्रभृत संस्कृतज्ञों ने प्राचीन संस्कृत-गद्य-शैली को अपनाने की ठानी और अनेक लोगों ने संस्कृत काव्य-ग्रन्थों के गद्य और पद्य अनुवाद हिन्दी में किये जिनमें पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी-कृत 'कुमार सम्भव' का अनुवाद तथा कविरत्न सत्यनारायण-कृत 'उत्तर रामचरित' एवं 'मालती माधव' के अनुवाद विशेष उल्लेखनीय हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि २० वीं शताब्दी के प्रथम २० वर्षों में एक ओर तो हिन्दी-लेखकों द्वारा अंग्रेजी-साहित्य के प्रभाव का स्वागत किया जा रहा था और दूसरी ओर उसके विरोध में प्राचीन संस्कृत-साहित्य का आह्वान। अँग्रेजी-साहित्य के विरुद्ध इसी प्रकार की प्रतिक्रिया अधिक जोरदार ढंग से मराठी साहित्य में हुई थी जब कि प्राचीन परिपाटी के हिमायतियों ने संस्कृत-साहित्य का सहारा लेकर अंग्रेजी-साहित्य के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकने के लिए भगीरथ प्रयत्न किया था। हिन्दी में विरोध की भावना उतना प्रबल रूप धारण न कर पाई और फलतः प्राच्य और पाश्चात्य प्रभाव साथ-साथ सक्रिय रहे।

कहीं-कहीं दोनों के मेल-जोल का दृश्य भी दिखाई पड़ता है। उदाहरणार्थ 'प्रिय-प्रवास' की राधा के चित्रण में और कविरत्न सत्यनारायण के भ्रमरदूत में नवीनता का पुट साफ-साफ दिखाई पड़ता है।

सन् १९२० के उपरान्त आने वाले पन्द्रह वर्षों को हिन्दी-साहित्य के इतिहासकारों ने छायावाद युग का नाम दिया है। ये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वर्ष थे। गद्य और पद्य-कृतियों द्वारा अनेक प्रतिभावान लेखकों ने इस काल को समृद्ध बनाया। यूरोपीय साहित्य तथा हिन्दी-साहित्य के सम्पर्क की दृष्टि से भी यह काल विशेष महत्त्व रखता है। इसके पूर्व यूरोपीय तथा भारतीय साहित्यिक परम्पराएँ एक-दूसरे के निकट आने पर भी आपस में हिल-मिल नहीं पाई थीं। उनमें आपस में मिलने की प्रवृत्ति अवश्य थी किन्तु साथ ही छिपी हुई संशय और विरोध की भावना भी थी। प्रथम यूरोपीय महायुद्ध के कारण भारतीय जनता का परिचय यूरोप से अधिक गहरा हो गया। अँग्रेजी उच्च-शिक्षा का प्रचार भी अब तेजी से हो रहा था और अँग्रेजी साहित्य के ज्ञान के साथ-ही-साथ उसके प्रति आकर्षण भी उत्पन्न हो रहा था। इस सम्बन्ध में रवीन्द्रनाथ टाकुर के काव्य के आदर्श का उल्लेख कर देना भी अत्यन्त आवश्यक है। महाकवि द्वारा १९०० और १९१५ के बीच में लिखी हुई कविता में भारतीय और पाश्चात्य आदर्शों का चमत्कारपूर्ण समन्वय है। भारतीय दर्शन के सिद्धान्त तथा यूरोपीय रोमाण्टिक और प्रतीकवादी कवियों के प्रभाव घुल-मिलकर एक हो गए हैं और अपनी कवित्व-शक्ति द्वारा महाकवि ने उनको एक अत्यन्त मनोमुग्धकारी स्वरूप दे दिया है। छायावादी कवियों के सम्मुख यह उदाहरण विद्यमान था और इससे वे बहुत प्रभावित हुए। फल यह हुआ कि छायावाद की कविता में भारतीय और यूरोपीय प्रभावों का ऐसा एकीकरण हुआ जैसा इसके पूर्व न हो पाया था। प्रसाद प्राचीन भारतीय-संस्कृति के बहुत बड़े समर्थक थे। पंत क्रमशः रामतीर्थ, विवेकानन्द, गान्धी और अरविन्द के अनुयायी रहे हैं तथा उपनिषदों में प्रतिपादित तथ्यों में उनका अमिट विश्वास है। निराला पर वेदान्त और वैष्णव भक्तों की कविता का प्रभाव पड़ा है और महादेवी की कविता की तह में सूफियों का मत, बौद्ध-दर्शन, उपनिषदों के सिद्धान्त सभी किसी-न-किसी अंश में मौजूद हैं। यह तो हुई भावों और विचारों की बात किन्तु जब हम छायावादी कविता के बाह्य स्वरूप पर विचार करते हैं तब हमें हिंदी-साहित्य के प्रगीत-मुक्तकों के इस स्वर्ण युग में और १९वीं शताब्दी की यूरोपीय रोमाण्टिक कविता में न केवल साम्य किन्तु परस्पर सम्बन्ध साफ साफ दिखाई देता है। छायावादी कविता का अध्ययन करते हुए कभी Wordsworth की तो कभी Shelley या Keats की आवाज सुनाई पड़ती है। कतिपय स्थलों पर साम्य इतना अधिक है कि अनुकरण का सन्देह होने लगता है। प्रतीकों का प्रचुर प्रयोग मिलता है। हम यह तो नहीं कह सकते कि फ्रांस के प्रतीकवादियों का सीधा प्रभाव छायावाद तक पहुँच पाया था किन्तु रवीन्द्रनाथ ठाकुर का प्रभाव तो स्पष्ट है और रवीन्द्रनाथ स्वयं यूरोपीय प्रतीकवादियों से प्रभावित हुए थे इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। Poe और Watt Whitman एक प्रकार से फ्रांसीसी प्रतीकवादियों के गुरु थे और इन दोनों अमेरिकन लेखकों की कृतियों का प्रचलन इस देश में काफी अरसे से है।

प्रेमचन्द के उपन्यासों और उनकी कहानियों में भी भारतीय और पाश्चात्य प्रभाव का एकीकरण मिलता है। विचार और आदर्श पूर्णरूपेण भारतीय हैं, किन्तु टेकनीक पाश्चात्य है। प्रेमचन्द का मानवतावाद भी उस यूरोपीय मानवतावाद से मिलता-जुलता है जो Balzac के

समय से प्रेमचन्द के काल तक यूरोपीय कथा-साहित्य में स्थान-स्थान पर मिलता है। हिन्दी-साहित्य को प्रेमचन्द की सबसे बड़ी देन यह है कि उन्होंने सर्वप्रथम पाश्चात्य परिपाटी पर सफलता पूर्वक हिन्दी-कहानियों और उपन्यासों का निर्माण किया। इसी काल में जैनेन्द्रकुमार ने मनोविज्ञान का हिन्दी कथा-साहित्य में समावेश किया। १६वीं और २० शताब्दी में यूरोप में मनोविज्ञान ने बड़ी उन्नति की और साहित्य से उसका सम्बन्ध अधिकाधिक निकट होता गया है। कभी-कभी तो मनोविज्ञान साहित्य पर इतना छा जाता है कि बात खटकने लगती है। यही प्रभाव जैनेन्द्रकुमार की कहानियों में सर्वप्रथम प्रकट हुआ। नाटकों के क्षेत्र में भी पाश्चात्य निर्माण-पद्धति स्वीकार की गई। एक विद्वान् ने बाबू जयशंकरप्रसाद-कृत 'अजात शत्रु' की भूमिका में अन्तर्द्वन्द्व और बहिर्द्वन्द्व को महत्त्व देते हुए यह मान लिया है कि उनके बिना नाटक का अस्तित्व सम्भव ही नहीं है। इस प्रकार के विचार पाश्चात्य प्रभाव के द्योतक हैं। हमें द्विजेन्द्रलाल राय का स्मरण हो आता है, क्योंकि उनका नाट्य-शास्त्र का विवेचन केवल शेक्सपियर के नाटकों के आधार पर किया गया है। पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र ने 'शा' और 'इब्सन' का अनुसरण करके नये ढंग के नाटक लिखे। हिन्दी की नवीन आलोचना भी यूरोपीय आलोचना को आदर्श मानकर आगे बढ़ने लगी और व्याख्या तथा खंडन-मंडन का ढंग छोड़कर विचारों के विवेचन में संलग्न हो गई।

छायावाद काल का साहित्यिक समन्वय उस युग का भारतीय और पाश्चात्य प्रभावों का एकीकरण बहुत दिनों तक कायम न रह सका। १६३५ ई० के लगभग परिवर्तन के चिह्न दिखाई पड़ने लगे। इस समय तक देश में उच्च अँग्रेजी शिक्षा-प्राप्त जनों का एक खासा बड़ा समुदाय बन चुका था। प्रथम महायुद्ध के काल से ही भारतीयों का ध्यान इंग्लैंड से हटकर समस्त यूरोपीय राजनीति और साहित्य की ओर आकृष्ट हो चला था। भारतीय जनता के मानसिक क्षितिज के विस्तार ने विश्वविद्यालयों की शिक्षा, समाचार-पत्रों, रेडियो इत्यादि ने योग दिया। साथ-ही-साथ यूरोप में दो-एक नवीन विचार-पद्धतियाँ तेजी से ग्रहण की जा रही थीं। मार्क्स का नवीन दर्शन, जिसमें जड़वाद ऐतिहासिक और वैज्ञानिक विचार तथा दलित जनवर्ग के प्रति सहानुभूति का सम्मिश्रण है, यूरोप के विशिष्ट भागों में अपना घर बना रहा था। यह नवीन परिपाटी इस देश में आई और अनेक कार्यों से पढ़े-लिखे नवयुवकों ने इसका स्वागत किया। हिन्दी-साहित्य भी इससे प्रभावित होने लगा। १६वीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही मनोविज्ञान का महत्त्व यूरोप में बढ़ रहा था। वर्तमान सदी में मनोविश्लेषण के आचार्यों ने अर्द्धचेतन और अचेतन मन का अध्ययन प्रारम्भ किया और इस प्रकार साहित्य के लिए एक नया क्षेत्र उपलब्ध कर दिया। हिन्दी-साहित्य पर मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण का प्रभाव भी १६३५ ई० के उपरान्त पड़ने लगा। भारतीय काव्य में प्रतीकों का प्रयोग बहुत पहले से होता आया है। कबीर तथा सूफी कवियों की कविता में प्रतीक भरे पड़े हैं तथा रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कविता में प्रतीकों का सुन्दर तथा प्रचुर प्रयोग हुआ है। पिछले २० वर्षों में लिखी जाने वाली हिन्दी प्रतीकवादी कविता में केवल प्राचीन परम्परा का निर्वाह नहीं है, उसका प्रतीकत्व साफ-साफ यूरोप के १६वीं और २०वीं शताब्दी के प्रतीकवादियों से प्रभावित है। उसकी अस्पष्टता और उसका अटपटापन बहुत-कुछ फ्रांसीसी प्रतीकवादियों तथा T. S. Eliot का स्मरण दिलाता है। हिन्दी प्रतीकवाद को सबसे बड़ा सहारा रवीन्द्रनाथ ठाकुर, T. S. Eliot तथा Yeats की कविता से मिला है, यद्यपि दो-एक आधुनिक

कवि फ्रांसीसी प्रतीकवादियों की कविता से परिचित हैं और कदाचित् उनका अनुकरण भी करते हैं। मनोविश्लेषण की खोजों से भी प्रतीकवाद को बल मिला है। कभी-कभी उपरोक्त प्रभाव मार्क्सवाद, मनोविश्लेषण के सिद्धान्त, तथा प्रतीकवाद सभी एकत्र होकर एक ही साहित्यकार की कृतियों में देखने को मिल जाते हैं। इस प्रकार विभिन्न प्रभावों का मिश्रण यूरोपीय Surrealists की याद दिलाता है। इसी भाँति कुछ कवियों की रचनाओं में वेदना-तत्त्व तथा निराशा का आधिक्य बहुत-कुछ यूरोपीय अस्तित्ववादियों अर्थात् Existentalists का सीधा प्रभाव हमारे साहित्य पर पड़ा है या नहीं।

अभिव्यंजनावाद के सम्बन्ध में हिन्दी में कई आलोचनापूर्ण निबन्ध लिखे गए हैं। इनमें से कुछ तो विवेचना और तुलना के अभिप्राय से लिखे गए हैं और कुछ ध्वंसात्मक हैं, किन्तु हिन्दी के रचनात्मक साहित्य पर अभिव्यंजनावाद की छाप नहीं मिलती। इस समय स्थिति यह है कि हमारे साहित्य का संतुलन नष्ट हो गया है। १६३५ ई० के उपरान्त यूरोपीय प्रभाव हमारे साहित्य में अनेक रूपों में इतनी द्रुतगति से प्रविष्ट हुआ कि वह सम्यक् प्रकार से आत्मसात् नहीं हो सका है। हमारे आभार का बोझ इतना अधिक है कि हिन्दी-साहित्य उसे आसानी से सँभाल नहीं पा रहा है। अतएव उसके कन्धे कुछ झुक गए हैं और पग लड़खड़ा रहे हैं। यह बात हम भर्त्सना अथवा कटु आलोचना के उद्देश्य से नहीं लिख रहे हैं। निष्पक्ष भाव से देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि साहित्यिक व्यवस्था इस समय अत्यन्त अनिश्चित अवस्था में है। छायावाद के समान कोई आन्दोलन आज विस्तृत प्रभाव नहीं रखता। प्रयोगवाद तो विभिन्न मतों तथा शैलियों के कवियों का एक जमघट-मात्र है। किसी साहित्यिक आन्दोलन की रूप रेखा निर्धारित करने के लिए यह कह देना पर्याप्त नहीं है कि उसके सभी अनुयायी अन्वेषक हैं, राह के साथी हैं। यह भी वांछनीय है कि उन राहगीरों के विचारों और भावनाओं में गहरा साम्य हो तथा उनकी रचना-प्रणाली में भी समानता हो। आज के हिन्दी-साहित्य में नवीनता का चमत्कार है तथा अन्वेषण और प्रयोग की भावना भी है, किन्तु उसकी रूपरेखा अनिश्चित है और इसका कारण बहुत कुछ यूरोपीय साहित्यिक तथा दार्शनिक प्रभाव का प्रबल आघात है।

यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि हिन्दी के आधुनिक लेखकों और कवियों में कौन किस यूरोपीय साहित्यिक परम्परा से प्रभावित हुआ है। यह तो सभी जानते हैं कि अज्ञेय पर मनोविश्लेषण और प्रतीकवाद का प्रभाव है। यशपाल और अश्क, नागार्जुन, भारतभूषण अग्रवाल इत्यादि प्रगतिवादी हैं। अश्क, प्रभाकर माचवे इत्यादि पर फ्रायड का प्रभाव है। इसी प्रकार सूची तैयार की जा सकती है, किन्तु इसकी विशेष आवश्यकता नहीं है क्योंकि यह हिन्दी के पाठकों के लिए रोज की जानकारी की बातें हैं। इसके अतिरिक्त वर्तमान कवियों और लेखकों की कृतियों का मूल्यांकन कठिन है और यह कार्य ठीक-ठीक दस-पाँच वर्ष के बाद ही हो सकेगा।

हिन्दी के कई लब्धप्रतिष्ठ आलोचकों ने यूरोपीय 'वादों' के प्रति अपनी अरुचि तथा अपना अविश्वास प्रकट किया है। यहाँ तक कि आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में कई स्थलों पर यूरोपीय प्रभाव के ग्रहण करने का विरोध किया है। इन आलोचकों की धारणा यह है कि पाश्चात्य प्रभाव स्वीकार करने से हमारा आत्मसम्मान नष्ट तथा साहित्य का स्वरूप विकृत होता है। इसके विपरीत C. E. Montague महोदय का यह कथन देखिए:—If a language would live, it must eat, & the English language, in all

its times of best health, has been a good feeder if not a gross one." किसी भी जीवित भाषा या साहित्य को पोषक तथा शक्तिवर्द्धक तत्वों के ग्रहण करने में संकोच नहीं होना चाहिए। अँग्रेजी साहित्य और उससे भी अधिक आज के अमेरिकन साहित्य की शक्ति और समृद्धि का बहुत बड़ा कारण यह है कि उनमें उच्च कोटि की ग्राहिका शक्ति है। अतएव यूरोपीय वादों से हिन्दी को तब तक कोई खतरा नहीं है। जब तक हम समझदारी के साथ अपने विशेष वातावरण और परिस्थितियों को देखते हुए उनका उपयोग करेंगे। कोरा अनुकरण तो अवश्य निरर्थक और हानिकर सिद्ध होगा।

विनयमोहन शर्मा

छायावादी कवियों का आलोचनात्मक दृष्टिकोण

प्रथम महायुद्ध के बाद हिन्दी-साहित्य में नूतन चेतना का उदय हुआ। इसलिए नहीं कि उस पर 'युद्ध' का सीधा प्रभाव पड़ा, पर पराधीन देश उससे अछूता बचा रहा यह कहना भी गलत है। ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा के लिए भारतीय धन-जन की आहुति चढ़ाई गई (हमारे देश के चोटी के नेताओं ने भी उस समय युद्ध-सहायता प्रदान की) और जब मित्र-राष्ट्र जीते तो भारतीयों को उनकी सेवा के उपलक्ष्य में दमनकारी कानूनों के शिकंजों में जकड़कर रौंदा गया, पीसा गया! इसकी प्रतिक्रिया समस्त देश में हुई। गाँधीजी के नेतृत्व में देश स्वाधीनता के लिए छटपटाने लगा, वह प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष मार्ग से विद्रोह के पथ पर चलने लगा। देश की बाह्य क्रान्ति साहित्य में प्रतिबिंबित हुई।[1] इस समय हिन्दी-कविता के दो रूप दिखाई दिए। एक तो वह जिसमें देश की स्वाधीन भावना मुक्तकण्ठ से मुखरित हो रही थी—कवि अपने चारों ओर की उत्पीड़नमयी घटनाओं और जनता के रोष को अभिधा में व्यक्त कर रहा था। दूसरा वह जिसमें धर्म, समाज तथा साहित्य की रूढ़ियों से विमुख होकर कवि अपनी सत्ता को स्वच्छन्द रीति से प्रतिष्ठित करने का आग्रह कर रहा था। मनोविज्ञान की भाषा में कहा जा सकता है कि देश के बाह्य राजनीतिक विद्रोह में भाग लेने में अक्षम मन ने साहित्य के निरापद क्षेत्र में अपनी स्वच्छन्द वृत्ति का परिचय दिया। यही स्वच्छन्दतावाद आगे चलकर छायावाद-रहस्यवाद से अभिहित किया जाने लगा।

पर हिन्दी-छायावाद में स्वच्छन्दतावाद का जो रूप दिखलाई दिया वह प्रथम महायुद्ध के पश्चात् कवि हार्डी, यीट्स या डीलामिरे का स्वच्छन्दतावाद नहीं है उसमें तो वर्ड्स्वर्थ, शैली, कीट्स, कालरिज, टेनीसन की स्वच्छन्द आत्मा झाँक रही है, सीधे या बँगला के माध्यम से। जिस प्रकार अँग्रेज़ी के स्वच्छन्दता-युग के कवियों ने कविता की पुरातन मान्यताओं को तिरस्कृत करके उसे नये रूप में प्रतिष्ठित किया, उसी प्रकार छायावादी कवियों ने भी कविता को देखने को नई दृष्टि दी; जिससे पूर्ववर्ती शास्त्रीय समीक्षा धीरे-धीरे दूर होकर कालेजीय विवेचना—टीकाओं—में सिमटकर रह गई! 'प्रसाद' कहते हैं—"इस युग की ज्ञान-सम्बन्धिनी अनुभूति में भारतीयों के हृदय पर पश्चिम की विवेचन-शैली का व्यापक प्रयत्न क्रियात्मक रूप में दिखलाई देने लगा किन्तु साथ-ही-साथ ऐसी विवेचनाओं में प्रतिक्रिया के रूप में भारतीयता की भी दुहाई सुनी जा रही

---

१. "आकाश में आच्छन्न होने वाले बादल जिस क्रान्ति से उमड़े थे, छायावाद भी ठीक उसी क्रान्ति का पुत्र था। जिस क्रान्तिकारी भावना के कारण बाह्य जीवन में राजनीतिक दुरवस्थाओं की अनुभूतियाँ तीव्र होती जा रही थीं, वही भावना साहित्य में छायावाद का रूप धारण कर खड़ी हुई थी और मनुष्य की मनोदशा विचार एवं सोचने की प्रणाली में विप्लव की सृष्टि कर रही थी।"—दिनकर 'मिट्टी की ओर' में।

है।" 'प्रसाद' ने भी साहित्य-कला की विवेचना करते समय भारतीय पारिभाषिक शब्दों को विस्मरण नहीं किया, पर उनकी व्याख्या में आधुनिकता भरने की चेष्टा स्पष्ट दिखलाई देती है। वे कहते हैं—"यदि हम भारतीय रुचि-भेद को लक्ष्य में न रखकर साहित्य की विवेचना करने लगेंगे तो······प्रमाद कर बैठने की आशंका है।" इस तरह छायावादी कवि पाश्चात्य और भारतीय, दोनों मान्यताओं को लेकर चलते हैं। उन्होंने साहित्य क्या है? कविता क्या है? उसके प्रेरक स्रोत क्या हैं? उसका भाव (matter) और बाह्य रूप-विधान (Form) से क्या सम्बन्ध है? वह युग-सापेक्ष है या निरपेक्ष आदि प्रश्नों पर विचार किया है। प्रसाद ने काव्य को "आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति" कहा है, जिसका सम्बन्ध विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान से नहीं है।" वे 'काव्य और कला' में लिखते हैं, "वह (काव्य) एक श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक ज्ञान-धारा है। विश्लेषणात्मक तर्कों से और विकल्प के आरोप से मिलन न होने के कारण आत्मा की मनन-क्रिया, जो वाङ्मय रूप में अभिव्यक्त होती है वह निस्सन्देह प्राणमयी और सत्य के उभय लक्षण प्रेम और श्रेय दोनों से परिपूर्ण होती है।" 'संकल्पात्मक मूल अनुभूति' से, 'प्रसाद' का तात्पर्य है, "आत्मा की मनन शक्ति की वह असाधारण अवस्था जो श्रेय सत्य को उसके मूल चारुत्व में सहसा ग्रहण कर लेती है।" प्रसाद का श्रेय 'सत्य ज्ञान' ही है, जिसकी व्यक्तिगत सत्ता नहीं है। उसे वे एक 'शाश्वत चेतनता या चिन्मयी ज्ञान-धारा' कहते हैं जो "व्यक्तिगत स्थानीय केन्द्रों के नष्ट हो जाने पर भी निर्विशेष रूप से विद्यमान रहती है।······'असाधारण अवस्था' 'युगों की समष्टि अनुभूतियों' में अन्तर्निहित रहती है।" 'प्रसाद' की काव्य की यह रहस्यमयी व्याख्या आंग्ल-रोमैंटिक-युग के कवियों की अन्तर्प्रेरणा और अन्तर्दर्शन (Inspiration and Intuition) समन्वित-सी जान पड़ती है। उनके 'अन्तर्प्रेरणा और अन्तर्दर्शन' में अज्ञात सत्ता का स्पन्दन भाव भी निहित है।

ब्लेक का कथन है, "Vision or imagination is a representation that externally exists really and unchangeably." (भीतरी झलक या कल्पना बाह्यावस्थित शाश्वत सत्य का प्रतिनिधि रूप है) काव्य-प्रतिभा परम सत्य (Truth and reality) को अनुभव करने की शक्ति का नाम है। 'प्रसाद' का 'सत्य', 'शाश्वत चेतन' या 'चिन्मयी ज्ञान-धारा' ब्लेक के Truth and reality से दूर नहीं है। कॉलरिज भी कविता को विशिष्ट अनुभूति की अभिव्यक्ति मानता है और उसमें भीतरी सत्य (Inner truth) का आभास पाता है। रोमाण्टिक कवि अनुभूति में आध्यात्मिकता का आभास पाकर 'प्रसाद' की 'आत्मा की अनुभूति' तक प्रायः पहुँच जाते हैं।[1] रामकुमार ने लिखा है, "आत्मा की गूढ़ और छिपी हुई सौन्दर्य-राशि का भावना के आलोक से प्रकाशित हो उठना ही कविता है।" और महादेवी 'सत्य को काव्य का साध्य और सौन्दर्य को उसका साधन' कहती हैं। महादेवी का 'सत्य' प्रसाद और रामकुमार की 'आत्मिक अनुभूति' के समान ही व्यापक है। 'पन्त' ने काव्य-सत्य के सम्बन्ध में 'आधुनिक कवि' में अपने विचार व्यक्त किये हैं, "मैं कल्पना के सत्य को (जो केवल कवि-सुलभ संवेदनशीलता से प्राप्त किया जा सकता है) सबसे बड़ा सत्य मानता हूँ और उसे ईश्वरीय प्रतिमा का अंश भी मानता हूँ।" 'दिनकर' की धारणा है, "कवि की कल्पना के अगल-बगल भावुकता और दार्शनिकता के पंख लगे रहते हैं। सच पूछिए तो प्रेरणा और भावुकता के आलोक में जगमगाने वाली दार्शनिक

1. "A poem is the very image of life expressed in its eternal truth."—Shelley

अनुभूतियाँ महान् काव्य का मेरुदण्ड हैं।"

छायावादी कवि आँग्ल-समीक्षकों के समान कविता के आत्मपरक (Subjective) और परात्मक (Objective) भेद प्रायः नहीं मानते। वे बाहर को भीतर का प्रकाश और अन्तर को बाहर की छाया अनुभव करते हैं। रामकुमार कहते हैं, "जिस समय आत्मा का व्यापक सौन्दर्य निखर उठता है उस समय कवि अपने में सीमित रहते हुए भी असीम हो जाता है। उस समय क्षण-क्षण में 'मैं' और 'सब' में विपर्यय हो जाता है। "मैं" चिरन्तन भावनाओं में 'सब' का रूप धारण कर लेता है।, माखनलाल का वक्तव्य है, "साँस सूक्ष्म जिस तरह एक-दूसरे के विद्रोही नहीं, उसी तरह विश्व के प्रलयंकर और कोमल परिवर्तन तथा युग का निर्माण तथा दूसरी तरफ हृदयोन्मेष तथा विश्व के विकास के वैभवशील कौशल—दोनों में कहीं विद्रोह नहीं दीख पड़ता। क्योंकि एक कवि के रक्त की पहचान और सिर का दान माँगती है, और दूसरी तरफ वस्तु में समा सकने के कोमलतर क्षणों के उन्चतर समर्पण का सुबूत चाहती है। एक कवि का निश्चय, और दूसरी कवि की अनुभूति बनकर रहना चाहती है।" 'बच्चन' के लिए भी "स्वप्न का जीवन उतना ही सत्य है जितना भौतिक।" 'निराला' की ये पंक्तियाँ प्रसिद्ध हैं :

"मैंने 'मैं' शैली अपनाई
देखा एक दुखी निज भाई
दुख की छाया पड़ी हृदय में
झट उमड़ वेदना आई।"

महादेवी कहती है,"जीवन का वह असीम और चिरन्तन सत्य जो परिवर्तन की लहरों में अपनी क्षणिक अभिव्यक्ति करता है अपने व्यक्त और अव्यक्त दोनों ही रूपों की एकता लेकर साहित्य में व्यक्त होता है। साहित्यकार जिस प्रकार यह जानता है कि बाह्य जगत् में मनुष्य जिन घटनाओं को जीवन का नाम देता है वे जीवन के व्यापक सत्य की गहराई और उसके आकर्षण की परिचायक हैं, जीवन नहीं; उसी प्रकार यह भी उससे छिपा नहीं है कि जीवन की जिस अव्यक्त रहस्य की वह भावना कर सकता है उसी की छाया इन घटनाओं को व्यक्त रूप देती है। इसी से देश और काल की सीमा में बँधा साहित्य रूप में एकदेशीय होकर भी अनेकदेशीय और युग विशेष से सम्बन्ध रहने पर भी युग-युगान्तर के लिए संवेदनीय बन जाता है।"

कालरिज श्रेष्ठ कविता उसी को कहता है जिसमें कवि अपने सुख-दुःख से ऊपर उठकर सृष्टि के सुख-दुःख में अपने को मिला देता है।[1] Self regarding emotion स्वार्थ-सीमित भावनाओं में प्रेषणीयता नहीं होती। 'पंत' 'आधुनिक कवि' में स्वीकार करते हैं, "यह सच है कि व्यक्तिगत सुख-दुःख के सत्य को अथवा अपने मानसिक संघर्ष को मैंने अपनी रचनाओं में वाणी नहीं दी। मैंने उससे ऊपर उठने की चेष्टा की है।"·········बौद्धिकता और भाव-प्रवणता (emotion) को पंत एक मानते हैं। प्रसाद ने भी बुद्धि और भाव को मन के ही दो रूप प्रतिपादित किये हैं[2] अतः जो बाह्यात्मक रचनाओं को बौद्धिक कहकर उनका इसलिए उपहास करते हैं कि उसमें कवि का 'मन' नहीं रमा रहता है, वे भ्रांति में हैं। कवि को द्रवित होने के

१. "So long as the poet gives utterances merely to his subjective feeling he has no right to the title."—Colridge.

२. 'काव्य और कला' पृष्ठ ३०.

लिए उसी पर सीधी चोट का पड़ना आवश्यक नहीं है। वह बाह्य वस्तु के माध्यम से भी पीड़ित हो सकता है। विधवा की करुण मानसिक स्थिति के अंकन के लिए कवि को स्वयं विधवा बनने की आवश्यकता नहीं है। उसके हृदय की संवेदनशीलता विधवा के दुःख को कल्पना के माध्यम से ग्रहण कर लेती है। इसी से कल्पना को केवल 'बुद्धि-व्यापार' नहीं कहा जा सकता। वह कवि की संवेदनशीलता से जाग्रत होती है और उसमें स्वयं संवेदना भी भरती है। 'पंत' और 'निराला' ने बहुत सजगता से 'स्व' और 'पर' में विभेदक पर्दा नहीं रहने दिया। इससे हिन्दी-समीक्षा को एक नई दृष्टि [1] मिली है।

काव्य की अभिव्यंजना के संबंध में छायावादियों में मतभेद है। अभिव्यंजना में भाषा, छंद, अलंकार आदि का समावेश होता है। वह काव्य की बाह्य आकृति (form) है। जब कलाकार के मन में कला-कृति का चित्र पूर्ण रूप से उतर आता है तभी अभिव्यक्ति में पूर्णता आती है। 'प्रसाद' कहते हैं—"जहाँ आत्मानुभूति की प्रधानता है, वहीं अभिव्यक्ति अपने में पूर्ण हो सकी है; वहीं कौशल या विशिष्ट पद-रचनायुक्त काव्य-शरीर सुन्दर हो सका है।"[2] व्यंजना वस्तुतः अनुभूति मयी प्रतिमा का स्वयं परिणाम है। क्योंकि सुन्दर अनुभूति का विकास सौन्दर्यपूर्ण होगा ही।"[3] 'प्रसाद' कला - अभिव्यंजना —को भाव (अनुभूति) से कम महत्त्व नहीं देते। क्रोशे के समान वे उसे प्रायः अभिन्न मानते हैं।

काव्य की भावाभिव्यंजना भाषा और प्रायः छन्द का रूप धारण करती है। भाषा को भावानुरूपिणी होना चाहिए, इस सम्बन्ध में 'पंत' का आग्रह है "कविता के लिए चित्र-भाषा की आवश्यकता पड़ती है। उसके शब्द सस्वर होने चाहिएँ, जो बोलते हों; सेब की तरह जिनके रस की मधुर लालिमा भीतर न समा सकने के कारण बाहर झलक पड़े; जो अपने भाव को अपनी ही ध्वनि में आँखों के सामने चित्रित कर सकें; जो झंकार में चित्र, चित्र में झंकार हो।" छायावादी कवियों ने भाषा को माधुर्य प्रदान करने में कम योग-दान नहीं दिया। कहीं-कहीं तो इसी से कवि की अनुभूति उसी के आवरण में ओझल हो गई है। तभी आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को जोर से कहना पड़ा कि *छायावादी अभिव्यंजना पर ठहर गए हैं। उनकी भावना का स्रोत सूख गया है।* 'प्रसाद' ने छायावादी रचना को 'अभिव्यक्ति' की भंगिमा पर अधिक निर्भर कर दिया। उन्होंने कहा—"ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीक-विधान तथा उपचार-वक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृत्ति छायावाद की विशेषताएँ हैं।"[4]

भाषा में 'प्रतीक' शब्दों के प्रयोग की ओर छायावादी कवि का विशेष आग्रह रहा है। उसने "*कुशल स्वर्णकार के समान प्रत्येक शब्द को, ध्वनि, वर्ण और अर्थ की दृष्टि से नाप-तोल और काँट-छाँटकर तथा कुछ नये गढ़कर अपनी सूक्ष्म भावनाओं को कोमल कलेवर दिया।*" (महादेवी 'आधुनिक कवि' पृष्ठ १०) 'निराला' भी भाषा को 'भावों की अनुगामिनी' मानते हैं

---

१. बौद्धिकता हार्दिकता का ही दूसरा रूप है।" (आधुनिक कवि—८)
"मनु अर्थात् मन के दोनों पक्ष हृदय और मस्तिष्क का सम्बन्ध क्रमशः श्रद्धा और इड़ा से भी लग सकता है।" 'कामायनी' (आमुख में)

२. काव्य और कला—पृष्ठ २७

३. वही

४. काव्य और कला—पृष्ठ १४१.

और यह भी कि "बड़े-बड़े साहित्यिकों की भाषा कभी जनता की भाषा नहीं रही।" भाषा की पुष्टि के लिए उन्होंने (छायावादियों ने) अलंकारों का उपयोग किया है। 'पन्त' उन्हें 'राग की परिपूर्णता के लिए आवश्यक उपादान' (पल्लव-पत्रिका) कहते हैं।

यद्यपि छन्दों के प्रति सामान्य विद्रोह रहने पर भी छायावादी कवियों ने छन्द-की लयता का कभी विरोध नहीं किया। स्वच्छन्द छन्दता के समर्थक निराला 'गीति-काव्य के प्रबल पुरस्कर्ता' हैं। 'जीवन' में लय-प्रवाह की सम्पूर्णता, स्वरैक्य तथा संयम लाने के लिए 'पन्त' काव्य में छन्द की आवश्यकता अनुभव करते हैं। "हिन्दी का संगीत केवल मात्रिक छन्दों ही में अपने स्वाभाविक विकास तथा स्वास्थ्य की सम्पूर्णता प्राप्त कर सकता, उन्हीं के द्वारा उसके सौन्दर्य की रक्षा की जा सकती है। संस्कृत के वर्ण-वृत्त हिन्दी की प्रकृति के प्रतिकूल हैं।" क्योंकि "उनकी लहरों में उसकी धारा अपना चंचल नृत्य, अपनी नैसर्गिक मुखरता, कल-कल, छल-छल तथा अपने क्रीड़ा-कौतुक, कटाक्ष एक साथ खो बैठती, उसकी हास्य-दृप्त सरल मुख-मुद्रा गम्भीर-मौन तथा अवस्था से अधिक प्रौढ़ हो जाती; उसका चंचल भृकुटि-भंग दिखलावटी गरिमा से दब जाता है।" भगवतीचरण वर्मा "मुक्त छन्द की कविता को अधिक-से-अधिक गद्य-काव्य मानते हैं," कविता नहीं। ('प्रगतिशील कविता' पर रेडियो-प्रसारित परिसंवाद) 'दिनकर' कविता में छन्द को स्वाभाविक मानते हैं क्योंकि 'छन्दःस्पन्दन समग्र सृष्टि में व्याप्त है, कला ही नहीं, जीवन की प्रत्येक शिरा में यह स्पन्दन एक नियम से चल रहा है। सूर्य, चन्द्र, ग्रह-मण्डल और विश्व की प्रगति-मात्र में एक लय है जो समय के ताल पर यति लेती हुई अपना काम कर रही है।" ('मिट्टी की ओर' पृष्ठ १२१) 'लय' और 'ताल' पर महत्त्व देने के कारण ही कई छायावादियों ने भाषा के व्याकरण की अधिक पर्वाह नहीं की।

द्विवेदी-युग में जहाँ कविता नपे-तुले विषय, परम्परागत अलंकार, छन्दों में वर्णन का शास्त्र बन गई थी, वहाँ छायावाद-युग में कवियों ने उसे परखने का नया दृष्टिकोण प्रचलित किया; वस्तु के साथ भाव का मेल किया और उसे कला के साथ समन्वित करने का प्रयास करके क्रोशे के शब्दों में अन्तर्प्रेरणा तथा अभिव्यंजना (Intuition and Expression) का सुन्दर गठ-बन्धन किया। उनके सामने जीवन को देखने का भी प्रश्न था। 'जीवन ऐसा होना चाहिए,' 'जीवन ऐसा है या जीवन सबसे पृथक् हो' की समस्या उसके सामने खड़ी थी। 'जीवन ऐसा होना चाहिए' में आदर्शवाद, 'जीवन ऐसा है' में यथार्थवाद, और जीवन सबसे पृथक् होने में व्यक्तिवाद आ जाता है।

महादेवी ने आदर्श और यथार्थ दोनों पर विचार किया है। "आदर्श हमारी दृष्टि की मलिन संकीर्णता धोकर उसे बिखरे यथार्थ के भीतर छिपे हुए सामंजस्य को देखने की शक्ति देता है। हमारी व्यष्टि में सीमित चेतना को मुक्ति के पंख देकर समष्टि तक पहुँचने की दिशा देता है। और हमारी खण्डित भावना को अखण्ड जागृति देकर, उसे जीवन की विविधता नाप लेने का वरदान देता है।" "यथार्थ स्थूल बन्धनों के भीतर निश्चित स्थिति रखता है।"..."आदर्श का सत्य निरपेक्ष है परन्तु यथार्थ की सीमा के लिए सापेक्षता आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य रहेगी।" आदर्शवादी कलाकार अपनी सृष्टि को अन्तर्जगत् में घेर लेता है। और यथार्थवादी "अपने निर्माण को केवल बाह्यजगत् में बिखरा देता है।" पर यथार्थवादी का 'कर्म' सहज नहीं है। महादेवी उसमें अशिवत्व-तत्त्व नहीं देखना चाहती। महादेवी जीवन में ऐसे आदर्श को अपनाना

चाहती है, जिसे प्रेमचन्द ने 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' कहा है, ऐसा आदर्श जो यथार्थ के संकेत छोड़ जाता है। 'बच्चन' आदर्श और यथार्थ दोनों से स्फूर्ति पाते हैं। उनका इंगित है—"देखते नहीं कि उसका एक हाथ उपवन में खिली चमेली का हिम-कण हार उतार रहा है और दूसरा हाथ भविष्य के तपोमय साम्राज्य में निर्भीकता के साथ प्रविष्ट होकर उषा की साड़ी खींच रहा है, देखते नहीं उसका एक कान निर्भरिणी की रागिनी श्रवण कर रहा है और दूसरा कान इन्द्र के अखाड़ों में खड़े हुए गंधर्व, किन्नर और अप्सराओं के आलाप का आनन्द ले रहा है।" ('मधुबाला'-प्रलाप, पृष्ट १०-११)

आज हिन्दी में जिस यथार्थवादी साहित्य को प्रगतिवाद के नाम से पुकारा जाता है उस सम्बन्ध में छायावादियों का दृष्टिकोण यह है कि वे इन यथार्थवादी रचनाओं में कवि का यथार्थ पाते ही नहीं। प्रसाद का मत है—"यथार्थवादी सिद्धान्त से ही इतिहासकार से कुछ अधिक नहीं ठहरता। क्योंकि यथार्थवाद इतिहास की सम्पत्ति है वह चित्रित करता है समाज कैसा है या था।" प्रसाद आदर्शवाद के भी भक्त नहीं हैं। क्योंकि "आदर्शवादी धार्मिक प्रवचनकर्ता बन जाता है।" वे साहित्य को इन दोनों वादों से ऊपर उठा ले जाते हैं, वे उनका (आदर्श और यथार्थ का) मेल कराते हैं, कहते हैं—"दुःख-दग्ध जगत् और आनन्दपूर्ण स्वर्ग का एकीकरण साहित्य है।"

महादेवी भी यथार्थवाद को 'जीवन का इतिवृत्त' (इतिहास) कहती हैं। यथार्थ 'प्रकृति और विकृति' दोनों चित्र देने के लिए स्वतन्त्र है पर जीवन में विकृति अधिक प्रसार-गामिनी है, परिणामतः यथार्थ की रेखाओं में वही बार-बार व्यक्त होती रहती है। "अतः महादेवी जीवन को स्वस्थ विकास देने वाली शक्तियों का प्रगति देने वाले प्रकृति-चित्रकार को सच्चा यथार्थवादी मानती हैं। और आज की 'यथार्थवादिनी' कविता तो ऐसे "कण्ठ से उत्पन्न हो रही है जो श्रमिक जीवन से नितान्त अपरिचित है।" महादेवी और प्रसाद चूँकि यथार्थ जगत् के भौतिक जीवन से अधिक परिचित नहीं हो पाए इसलिए उनमें उसके प्रति तीव्र संवेदना नहीं जाग सकी। 'पन्त' की भी यही स्थिति है—उनकी यथार्थ (मानव जीवन) के प्रति बौद्धिक सहानुभूति अधिक रही है। प्राचीन प्रचलित विचार और जीर्ण आदर्श की उपयोगिता को नष्ट होते देखकर भी 'पन्त' ने आदर्श से विद्रोह नहीं किया और यथार्थ की उपेक्षा भी नहीं की। दोनों का समन्वय करके उन्होंने कविता को एक नया 'तन्त्र' देना चाहा—"मेरा विश्वास है, लोक-संगठन तथा संगठन एक-दूसरे के पूरक हैं।" क्योंकि वे एक ही युग (लोक) चेतना के बाहरी और भीतरी रूप हैं।" (उत्तरा)। आज साहित्यकार "कभी व्यक्ति से असन्तुष्ट होकर समाज की ओर झुकता है, कभी समाज से असन्तुष्ट होकर व्यक्ति की ओर।" 'पन्त' की धारणा है, "इन दोनों किनारों पर उसे अपनी समस्याओं का समाधान नहीं मिलेगा।" इसलिए वे 'बहिरंतर' जीवन के समन्वय को ही अधिक प्रधानता देते हैं। इस तरह 'पन्त' साहित्य में समन्वयवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत कर रहे हैं। यह दृष्टिकोण 'प्रसाद' के समरसता का पर्याय ही कहा जा सकता है।

छायावादी कवि राजनीतिक 'वाद' के दायरे में अपने को नहीं बाँधना चाहते। 'निराला' के शब्दों में "एक साहित्यिक जब राजनीति को साहित्य से अधिक महत्त्व देता है तब वह साहित्य की यथार्थ मर्यादा अपनी एकदेशीय भावना के कारण घटा देता है। साहित्यिक मनुष्य की प्रवृत्तियों को ही श्रेय देता है, जीवन के साथ राजनीति का नहीं, साहित्य का सम्बन्ध है।"

दिनकर भी साहित्य को राजनीति का अनुचर नहीं मानते, "कला-क्षेत्र में हमारा दृष्टिकोण सच्चे अनिषेध का होना चाहिए। कवि के लिए जो प्रथम और अन्तिम बन्धन हो सकता है, वह केवल इतना ही है कि कवि अपने-आपके प्रति पूर्ण ईमानदार रहे।" (मिट्टी की ओर) बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' 'फ्राइडवाद' का निषेध करते हैं। वे लिखते है—"ज्ञान में मानव ने जो एकसूत्रबद्धता तथा कार्यकारणता विकसित की है, वह केवल ऐंद्रिक प्रतिक्रिया द्वारा उपलब्ध नहीं होती।···मैं कला-साहित्य-समीक्षा के उस मानदण्ड को भ्रामक मानता हूँ जो प्रत्येक साहित्यिक कृति अथवा कलाकृति की सामाजिक परिस्थिति के ऊपर आत्यन्तिक रूप से आधारित कर देता है।...निश्चय ही भौतिक शरीरधारी मानव पदार्थमूलक धरातल पर कार्य करता है। बाह्य परिस्थितियाँ साहित्यिक कृतियों को प्रभावित करती हैं, पर मानव की 'न-इति' प्यास को भौतिक अभावजन्य कहना अनर्थमूलक है।" (अपलक)

छायावादी कवियों में साहित्य की रूढ़ मान्यताओं के प्रति तीव्र अनास्था भले ही न हो, फिर भी उनसे लगे रहने का उनमें आग्रह भी नहीं है। वे कविता को अन्तर्बाह्य अनुभूति का परिणाम मानते हैं, इसलिए उसके Subjective (अन्तर्वृत्ति निरूपक) और Objective (बहिर्वृत्ति निरूपक) भेद को बहुधा नहीं मानते। अन्तर में "मधुर-मधुर मेरे दीपक जल" की मनुहार करने वाली महादेवी और "मेरे नगपति मेरे विशाल" पर दृष्टि जमाने वाले दिनकर एक ही पंक्ति में बैठते हैं। 'दिनकर' की बाह्य दृष्टि होने पर भी उसका बिम्ब उनके अन्तर-पट पर ही पड़ता है।

छायावादियों का प्रकृति के प्रति तादात्म्य न होने पर भी वे उससे बराबर स्फूर्ति ग्रहण करते हैं। साहित्य को युगापेक्षी बनाना उनका ध्येय नहीं है, पर युग-चेतना से वे अवश्य अनुप्राणित होना चाहते हैं। लौकिक भावनाओं का उदात्तीकरण करने के कारण उन्हें आदर्शवादी कहा जाता है पर चूँकि उनका यह 'आदर्श' सर्वथा कल्पना-प्रसूत नहीं है उसका लगाव धरती से भी है, इसलिए हम उनमें समन्वयवादी दृष्टिकोण की ही अधिक प्रवृत्ति देखते हैं।

'भाव' की प्रतिष्ठा स्वीकारने के कारण भारतीय रसवादी और शैली के आग्रह के कारण पाश्चात्य अभिव्यंजनावादी लेने का भी उन्हें श्रेय प्राप्त है।

जगदीश गुप्त

छायावाद की भावभूमि

छायावाद की सुकुमार काव्यधारा को अपने जन्म से ही आलोचना की तीव्र दृष्टि सहनी पड़ी। उस समय उसकी भावभूमि इतनी अस्पष्ट थी कि नासमझी और रूढ़िवादिता के कारण स्वागत की अपेक्षा उसे परिहास, व्यंग्य, विरोध तथा संकीर्णता का निरन्तर सामना करना पड़ा। किन्तु द्विवेदी-युग की बाह्योन्मुखी अनगढ़ अनरस कविता की स्वाभाविक प्रतिक्रिया एवं परिणति होने के कारण छायावाद उन समस्त विरोधों के समक्ष अप्रत्याशित रूप से विजयी हुआ और उसकी अदम्य शक्ति, अभिनव सौन्दर्य तथा अतिशय सुकुमारता ने उस युग की सामान्य साहित्यिक चेतना को विमुग्ध कर लिया। कदाचित् इस विजयोन्माद ने तथा अन्य अनेक कारणों ने छायावाद की जिन गम्भीरतम आलोचना और नवीनतम व्याख्याओं की सृष्टि की वे भी उसकी वास्तविक भावभूमि को समझने में पूर्णतया सक्षम नहीं सिद्ध हुईं। अनेक गण्य-मान्य छायावादी कवियों ने तथा उन्हीं से प्रभावित कई आलोचकों ने उसे अध्यात्मवाद के भारी गौरव से अभिषिक्त कर दिया जिसको साहित्यिक शब्दावली में रहस्यवाद और सर्वात्मवाद की संज्ञा मिली। यद्यपि इस प्रवृत्ति का भी विरोध हुआ और अनेक विचारशील विवेचकों ने वास्तविकता की स्पष्ट एवं निर्भीक व्याख्या प्रस्तुत की, परन्तु फिर भी उस गुरुता से छायावादी कविता आज तक मुक्त नहीं हो सकी है। अतएव मूल प्रश्न यह है कि छायावाद की वास्तविक भावभूमि लौकिक है अथवा अलौकिक। आध्यात्मिकता उसमें है या नहीं; यदि है तो स्वाभाविक वृत्ति के रूप में अथवा कृत्रिम आरोप होकर। रहस्यवाद से छायावाद को सम्बद्ध करना कहाँ तक उचित है कहाँ तक अनुचित। और अगर है तो क्या यह रहस्यवादी प्रवृत्ति कबीर और जायसी की परम्परा का अनुसरण है अथवा पाश्चात्य 'mysticism' की गूँज-मात्र।

छायावाद के सम्बन्ध में दो मत हिन्दी-जगत् में प्रचलित हैं यह उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है। जो मत आध्यात्मिक व्याख्या का पक्षपाती है उसने छायावाद को रहस्यवाद का प्रथम सोपान माना है और दोनों की अभिन्नता का इस सीमा तक सांगोपांग प्रतिपादन किया है कि सहसा विश्वास नहीं हो पाता। फिर भी उसका संक्षिप्त परिचय पा लेना आवश्यक है। कवियों में मुख्यतः महादेवी वर्मा, रामकुमार वर्मा तथा कुछ अंशों में प्रसाद को छायावाद की इस अध्यात्ममूलक व्याख्या का श्रेय है और आलोचकों में नन्ददुलारे वाजपेयी, गंगाप्रसाद पाण्डेय तथा विश्वम्भर 'मानव' आदि को। जिन आलोचकों का नामोल्लेख यहाँ हुआ है उनकी कृतियों अथवा आलोचनाओं को महत्त्व दिया जाय या न दिया जाय परन्तु वे इसलिए तो महत्त्व रखते ही हैं कि उन्होंने इस मत का समर्थन एवं प्रचार किया।

इस मत को गम्भीरतापूर्वक स्थापित करने का सबसे अधिक श्रेय महादेवी जी को है। उन्होंने अपने विवेचनात्मक गद्य में पग-पग पर इसका समर्थन ही नहीं वरन् शास्त्रीय आधार लेते हुए एक सुदृढ़ परम्परा तथा व्यापक जीवन-दर्शन निर्मित करने का भी प्रयास किया है।

निम्न लिखित अंश उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किये जा सकते हैं :

"छायावाद का कवि धर्म के अध्यात्म से अधिक दर्शन के ब्रह्म का ऋणी है जो मूर्त और अमूर्त विश्व को मिलाकर पूर्णता पाता है। बुद्धि के सूक्ष्म धरातल पर कवि ने जीवन की अखण्डता का भावन किया, हृदय की भावभूमि पर उसने प्रकृति में बिखरी सौन्दर्य-सत्ता की रहस्यमयी अनुभूति की और दोनों के साथ स्वानुभूत सुख-दुःखों को मिलाकर एक ऐसी काव्य-सृष्टि उपस्थित कर दी जो प्रकृतिवाद, हृदयवाद, अध्यात्मवाद, रहस्यवाद, छायावाद आदि अनेक नामों का भार सँभाल सकी।"[1]

"हम यह समझ नहीं सके हैं कि रहस्यवाद आत्मा का गुण है, काव्य का नहीं।

यह युग पाश्चात्य साहित्य से प्रभावित और बंगाल की नवीन काव्यधारा से परिचित तो था ही, साथ ही उसके सामने रहस्यवाद की भारतीय परम्परा भी रही।"[2]

"अलौकिक रहस्यानुभूति भी अभिव्यक्ति में लौकिक ही रहेगी।

अलौकिक आत्म-समर्पण को समझने के लिए भी लौकिक का सहारा लेना होगा।"[3]

"रहस्यवाद में जो प्रवृत्तियाँ मिलती हैं उन सबके मूल रूप हमें उपनिषदों की विचार-धारा में मिल जाते हैं।

"युगों के उपरान्त छायावाद के प्रतिनिधि कवियों ने भी इस विचारधारा का विद्युत् स्पर्श अनुभव किया और यह न कहना अन्याय होगा कि उन्होंने उस परम्परा को अक्षुण्ण रखा।"[4]

यहाँ महादेवी जी ने स्वीकार किया है कि रहस्यवाद आत्मा का गुण होने के साथ-साथ काव्य का गुण भी है और छायावादी कवियों ने उपनिषदों के समय से चली आती हुई तथा जायसी और कबीर के द्वारा पोषित रहस्यवाद की परम्परा उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त की है। उनकी लौकिक लगने वाली अभिव्यक्ति वस्तुतः अलौकिक रहस्यानुभूति है क्योंकि अलौकिक आत्मसमर्पण को समझने के लिए भी लौकिक का सहारा लेना होता है।

इतना ही नहीं महादेवी जी ने छायावाद की निराशा एवं दुःख की मनोवृत्ति को व्यक्तिगत असफलताओं से उत्पन्न विषाद-मात्र न मानकर उस करुणा की कोटि में स्थापित कर दिया जहाँ वह सर्वात्मवाद बन जाती है :

"छायावाद को दुःखवाद का पर्याय समझ लेना भी सहज हो गया है। जहाँ तक दुःख का सम्बन्ध है उसके दो रूप हो सकते हैं—एक जीवन की विषमता की अनुभूति से उत्पन्न करुणा भाव, दूसरा जीवन के स्थूल धरातल पर व्यक्तिगत असफलताओं से उत्पन्न विषाद।"[5]

'व्यक्तिगत सुख-दुःख की अभिव्यक्तियाँ भी मार्मिक हो सकीं पर वे छाया-युग के

---

१. 'महादेवी का विवेचनात्मक गद्य' पृष्ठ ६०-६१,
२. वही, पृष्ठ १०७,
३. वही, पृष्ठ १११,
४. वही पृष्ठ १४०,
५. वही, पृष्ठ ६२,

सर्ववाद से इस प्रकार प्रभावित है कि उसमें स्वतन्त्र अस्तित्व मिलना कठिन हो गया।"[1]

इन दोनों से हटकर महादेवी जी ने छायावाद की एक तीसरी परिभाषा दी है और वह यह कि : छायावाद तत्त्वतः प्रकृति के बीच में जीवन का उद्गीथ है...।[2]

किसी भी विचारक की ईमानदारी में संदेह करना अपराध है परन्तु महादेवी जी द्वारा दी गई छायावाद। की व्याख्या को देखकर ऐसा अपराध करने को जी चाहता है। इसका कारण लेखक की रुचि न होकर स्वयं महादेवी जी द्वारा प्रस्तुत व्याख्या के वे अंश हैं जो उक्त अंशों के स्वयं विरोधी हैं और घोषित करते हैं कि वास्तव से दूर जाने के प्रयत्न में किया गया यह तिहरा प्रयास अन्त तक सफल न हो सका, क्योंकि एक विचारशील पाठक आज भी उनकी व्याख्या से निस्संदिग्ध और संतुष्ट नहीं हो पाता। इस प्रकार की व्याख्याओं पर यह सबसे बड़ा प्रश्न-चिह्न है।

महादेवी जी ने अपने 'विवेचनात्मक' गद्य में ही छायावाद को जागरणयुग की सृष्टि, और उसके अध्यात्म को बौद्धिक तथा रूढ़िगत अध्यात्म से भिन्न स्वीकार किया है।[3] उन्होंने यह भी निश्चित रूप से माना कि जिस सूक्ष्म को छायावाद ने अभिव्यक्ति प्रदान की वह स्थूल से बाहर कहीं अस्तित्व ही नहीं रखता।

मनुष्य का व्यक्त सत्य 'स्थूल' है और 'अव्यक्त सत्य'—अर्थात् 'कुछ होने की भावना' ही 'सूक्ष्म' है।[4] साथ ही यह 'सूक्ष्म' स्थूल का ही दूसरा रूप है। यह भी उन्होंने अस्वीकार नहीं किया कि छायावाद ने 'युगों से प्रचलित सस्ती भावुकता और वासना के विकृत चित्र' देने के स्थान पर उच्चतर रूप में परिष्कृत (वासना) वैयक्तिक उल्लास-विषाद की सफल अभिव्यक्ति की।[5]

इतना सब-कुछ मान लेने के बाद उनकी रहस्यानुभूति, तथा उनके सर्ववाद और

---

१. वही, पृष्ठ ६६.

२. वही, पृष्ठ ६४.

३. (i) हमारे जागरण-युग ने जिस परिवर्तन को काव्य की रूपरेखा में स्पष्ट किया वह उसके पूर्वगामी युग में भी अशरीरी आभास देता रहा था। पृष्ठ ५४.

(ii) बुद्धि के सूक्ष्म धरातल पर कवि ने जीवन की अखण्डता का भावन किया'''पृष्ठ ६०.

(iii) अखण्ड चेतना से तादात्म्य का रूप केवल बौद्धिक भी हो सकता है, पर रहस्यानुभूति में बुद्धि का ज्ञेय ही हृदय का प्रेय हो जाता है। पृष्ठ ११२.

(iv) छायावाद ने कोई रूढ़िगत अध्यात्म या वर्गगत सिद्धान्तों का संचय न देकर······ पृष्ठ ६६.

४. (i) छायावाद स्थूल की प्रतिक्रिया में उत्पन्न हुआ था अतः स्थूल को उसी रूप में स्वीकार करना उसके लिए सम्भव न हुआ; परन्तु उसको सौन्दर्य-दृष्टि स्थूल के आधार पर नहीं है यह कहना स्थूल की परिभाषा को संकीर्ण करना है—पृष्ठ ६७.

(ii) जीवन की समष्टि में सूक्ष्म से इतने भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वह तो स्थूल से बाहर कहीं अस्तित्व ही नहीं रखता। पृष्ठ ६८.

५. इस व्यक्ति-प्रधान युग में व्यक्तिगत सुख-दुःख अपनी अभिव्यक्ति के लिए आकुल थे, अतः छाया-युग का काव्य स्वानुभूति-प्रधान होने के कारण वैयक्तिक उल्लास-विषाद की अभिव्यक्ति का सफल माध्यम बन सका। पृष्ठ ६७.

अध्यात्मवाद में क्या शेष रह जाता है जिसके प्रतिपादन के लिए उन्हें इतना श्रम करना पड़ा। किसी भी तटस्थ विचारक को यह स्पष्ट हो जायगा कि महादेवी जी यद्यपि छायावाद की वास्तविक भावभूमि से पूर्णतया अवगत हैं तथापि उसे वैसे स्वीकार न करके अध्यात्मवाद अथवा सर्ववाद का अनावश्यक आवरण चढ़ाकर स्वीकार करने में उन्हें संकोचहीनता तथा सन्तोष का अनुभव होता है जो वैसे कदाचित् न होता। इस प्रकार की व्याख्या के प्रस्तुत किये जाने के मौलिक कारण वही हैं जिन्होंने छायावादी कविता में व्यक्त मानवीय भावनाओं को छाया का रूप दिया। छाया शब्द का यह अर्थ महादेवी जी को भी अग्राह्य नहीं है।[१] महादेवी जी यदि केवल अपनी व्याख्या को अपने काव्य तक ही सीमित रखतीं तो इतने विस्तार में उस पर विचार करने की आवश्यकता न होती परन्तु उन्होंने अपने विचार समस्त छायावादी काव्य के सम्बन्ध में व्यक्त किये हैं।

महादेवी जी के विवेचन में आने वाले अन्तर्विरोधों को छोड़ भी दिया जाय तो भी छायावाद की अलौकिकता निर्विरोध सिद्ध नहीं हो पाती, क्योंकि अन्य छायावादी कवियों का मत उनके विरुद्ध है। इस सम्बन्ध में पन्त जी द्वारा दिया गया यह विवेचन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है :

'दूसरे शब्दों में नवीन सामाजिक जीवन की वास्तविकता को ग्रहण कर सकने से पहले, हिन्दी-कविता, छायावाद के रूप में, ह्रास युग के वैयक्तिक अनुभवों, ऊर्ध्वमुखी विकास की प्रवृत्तियों, ऐहिक जीवन की आकांक्षाओं-सम्बन्धी स्वप्नों, निराशाओं और संवेदनाओं को अभिव्यक्त करने लगी और व्यक्तिगत जीवन की कठिनाइयों से क्षुब्ध होकर, पलायन के रूप में, प्राकृतिक दर्शन के सिद्धान्तों के आधार पर, भीतर-बाहर में, सुख-दुःख में, आशा-निराशा और संयोग-वियोग के द्वन्द्वों में सामंजस्य स्थापित करने लगी। सापेक्ष की पराजय इसमें निरपेक्ष की जय के रूप में गौरवान्वित होने लगी।'[२]

'प्रसाद' जी ने यद्यपि अपने काव्य में अनेक स्थलों पर रहस्यात्मकता का आश्रय लिया है परन्तु सिद्धान्ततः छायावाद को उन्होंने न रहस्यवाद से सम्बद्ध किया और न प्रकृतिवाद से, वरन् ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीक-विधान तथा उपचार-वक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृति को छायावाद की विशेषताओं में स्वीकार करके एक प्रकार से उसका प्रतिवाद ही किया।[३]

'निराला' जी ने इस सम्बन्ध में अपना कोई स्पष्ट मत नहीं दिया परन्तु उनके काव्य में

---

१. स्वच्छन्द-छन्द में चित्रित उन मानव-अनुभूतियों का नाम छाया उपयुक्त ही था और मुझे तो आज भी उपयुक्त ही लगता है। पृष्ठ ६०.

२. आधुनिक कवि, भाग २ पृष्ठ १२.

३. ''''हाँ मूल में यह रहस्यवाद भी नहीं है। प्रकृति विश्वात्मा की छाया या प्रतिबिम्ब है; इसलिए प्रकृति को काव्यगत व्यवहार में लेकर छायावाद की सृष्टि होती है, यह सिद्धान्त भी भ्रामक है। यद्यपि प्रकृति का आलम्बन, स्वानुभूति का प्रकृति से तादात्म्य नवीन काव्य-धारा में होने लगा है, किन्तु प्रकृति से सम्बन्ध रखने वाली कविता को ही छायावाद नहीं कहा जा सकता।

छाया भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति की भंगिमा पर अधिक निर्भर करती है। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमयता, प्रतीक-विधान तथा उपचार-वक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृति छायावाद की विशेषताएँ हैं।—काव्य-कला तथा अन्य निबंध

स्थल-स्थल पर मानवीय स्वर इतना प्रधान है और लाक्षणिक आवरण भी इतना झीना है कि उनके सम्पूर्ण काव्य की आध्यात्मिक व्याख्या नहीं की जा सकती।

छायावाद की प्रारम्भिक अवस्था में कविताओं पर आध्यात्मिकता की ध्वनि का आवरण पूरी तरह नहीं चढ़ पाया था अतएव प्रारम्भिक आलोचक शुक्लजी को उसकी वास्तविक भाव-भूमि परखने में भ्रान्ति नहीं हुई। उन्होंने लिखा :

'प्रणय-वासना का यह उद्‌गार आध्यात्मिक पर्दे में ही छिपा न रह सका। हृदय की सारी काम-वासनाएँ, इन्द्रियों के सुख-विलास की मधुर और रमणीय सामग्री के बीच, एक बँधी हुई रूढ़ि पर व्यक्त होने लगीं। इस प्रकार रहस्यवाद से सम्बन्ध न रखने वाली कविताएँ भी छायावाद की कही जाने लगीं अतः 'छायावाद' शब्द का प्रयोग रहस्यवाद तक ही न रहकर काव्य-शैली के सम्बन्ध में भी प्रतीकवाद के अर्थ में होने लगा।

'रीतिकाल की शृङ्गारी कविता की भरमार की तो इतनी निन्दा की गई पर वही शृङ्गारी कविता कभी रहस्य का पर्दा डालकर, कभी खुले मैदान अपनी कुछ अदा बदलकर फिर प्रायः सारा काव्य-क्षेत्र छोड़कर चल रही है।'

किन्तु जहाँ इस प्रकार की तीव्र आलोचना शुक्लजी ने की वहीं छायावाद में कुछ अंश तक आध्यात्मिक प्रेम की सत्ता की साक्षी भी दी है :

'छायावाद जहाँ तक आध्यात्मिक प्रेम लेकर चला है वहाँ तक तो रहस्यवाद के ही अन्तर्गत रहा है। उसके आगे प्रतीकवाद या चित्रभाषावाद नाम की काव्य-शैली के रूप में गृहीत होकर भी वह अधिकतर प्रेम-गान ही करता रहा है।'[1]

प्रसाद जी की तरह शुक्ल जी की व्याख्या भी छायावाद के भावपक्ष को गौण और शैली-पक्ष को प्रधान मानकर चली है जब कि वास्तविकता यह है कि छायावादी कविता की भाव-सम्पत्ति को किसी प्रकार उसकी शैली की तुलना में अप्रधान नहीं ठहराया जा सकता।

शुक्ल जी के अनन्तर अनेक आलोचक छायावाद की समीक्षा करने में प्रवृत्त हुए। आध्यात्मिकता के पक्ष के प्रायः सभी समर्थकों को प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से महादेवी जी की विचार-धारा ने प्रभावित किया और कुछ दूर तक विरोधियों को भी तीव्र प्रतिवाद करने का आमन्त्रण दिया।

छायावाद की नई-नई परिभाषाएँ सामने आने लगीं और काव्य में आध्यात्मिकता की विविध अवस्थाएँ खोजी जाने लगीं।

नन्ददुलारे वाजपेयी ने अपना विचार व्यक्त किया कि 'छायावाद के मूल में स्थित आध्यात्मिक दर्शन के ही कारण नये भौतिकवादी उसमें दोष-ही-दोष देखते हैं।' अन्यत्र कहा गया कि 'विश्व की किसी वस्तु में एक अज्ञात सप्राण छाया की झाँकी पाना अथवा उसका आरोप करना ही छायावाद है। छायावादी कवि प्रकृति के पुजारी की भाँति विश्व के कण-कण में अपने सर्व-व्यापक प्राणों की छाया देखता है। इसकी तीन अवस्थाएँ बताई गई। पहली 'सृष्टि के प्रति विस्मय का भाव', दूसरी 'मानसिक अशान्ति की आकुलता का आभास', तथा तीसरी 'प्रेम के प्रकाश की प्राप्ति', इसी को छायावाद की चरम परिणति माना गया, जहाँ पहुँचकर छायावादी उसी

---

१. 'आधुनिक साहित्य' पृष्ठ ३७२.

ध्येय को प्राप्त करता है जिसे दार्शनिक एवं रहस्यवादी।[1] महादेवी जी के दीपक को आत्मा का प्रतीक मानकर 'दीपशिखा' तक आने के चार याम 'नीहार', 'रश्मि', 'नीरजा' और 'सान्ध्यगीत' को उनकी आध्यात्मिक रहस्यानुभूति की साधना के चार सोपान समझा गया।[2] इस प्रकार इस तरह की आध्यात्मिक व्याख्या ने साधारण पाठक को यह सोचने पर बाध्य किया कि छायावादी कवि एक असाधारण प्राणी होता है जो साधकों और सूफियों की तरह इस लोक को भूलकर किसी इतर सौन्दर्य-लोक में निवास करने वाले अव्यक्त, असीम, अज्ञात प्रियतम की खोज में निरत रहता है। उसका सारा काव्य इस लोक की ऐहिक आकांक्षाओं से सम्बन्ध न रखकर एक अलौकिक प्रेम-विरह की रहस्यानुभूति से सम्बन्ध रखता है और उसे सामान्य मानवीय अनुभूतियों के धरातल पर उतार लाना अनुचित एवं असंगत है।

छायावाद पर आध्यात्मिकता के जितने गहरे आवरण डालने के प्रयास इस ओर से हुए उनका उतना ही तीव्र प्रतिवाद दूसरी ओर से किया गया और कटु सत्य को निरावृत रूप में सामने लाने का आग्रह भी एक दूसरी सीमा पर पहुँच गया। कवियों में पंत जी ने छायावाद की यथार्थवादी व्याख्या प्रस्तुत की ही थी, डॉ० नगेन्द्र, शिवदानसिंह चौहान तथा डॉ० देवराज आदि आलोचकों ने भी नवीन-नवीन तर्कों के आधार पर आध्यात्मिक अनुभूति के रहस्य का उद्घाटन करना प्रारम्भ कर दिया और यह विचार-धारा आज अपेक्षाकृत अधिक जीवित रूप में स्थित है।

डॉ० नगेन्द्र ने छायावाद का आधार पहले 'स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह'[3] बताया फिर कदाचित् विद्रोह की वास्तविक प्रेरणा का अभाव देखकर अपनी शब्दावली को बदल दिया और फिर 'उसके मूल में स्थूल से विमुख होकर सूक्ष्म के प्रति आग्रह'[4] कहना अधिक उचित समझा।

जहाँ तक छायावाद की भावभूमि का सम्बन्ध है उन्होंने उसे नितान्त लौकिक माना और लिखा कि छायावाद के कवि की 'प्रेरणा उसकी कुण्ठित वासनाओं से ही आई है, सर्वात्मवाद की रहस्यानुभूति से नहीं।'[5] इन कुण्ठाओं का कारण उनके अनुसार 'राजनीति में ब्रिटिश साम्राज्य की अचल सत्ता और समाज में सुधारवादी दृढ़ नैतिकता, असन्तोष और विद्रोह की इन भावनाओं को बहिर्मुखी अभिव्यक्ति का अवसर नहीं देती थीं। निदान वे अन्तर्मुखी होकर धीरे-धीरे अवचेतन में जाकर बैठ रही थीं, और वहाँ से क्षति-पूर्ति के लिए छाया-चित्रों की सृष्टि कर रही थीं। आशा के इन स्वप्नों और निराशा के इन छाया-चित्रों की काव्यगत समष्टि ही छायावाद कहलाई।'[6] 'वास्तव पर अन्तर्मुखी दृष्टि डालते हुए उसको वायवी अथवा अतीन्द्रिय रूप देने की प्रवृत्ति' को उन्होंने छायावाद की मूल वृत्ति घोषित किया और उसकी रहस्यवादी प्रकृतिवादी आदि अन्य सभी प्रवृत्तियों की इसी अन्तर्मुखी वायवी वृत्ति के आधार पर व्याख्या की।[7] तथाकथित रहस्यानुभूतियों को तो स्पष्ट रूप से उन्होंने बौद्धिक जिज्ञासाएँ-मात्र माना, क्योंकि वे धार्मिक साधना

१. 'छायावाद : रहस्यवाद'—गंगाप्रसाद पाण्डेय, पृष्ठ २१.
२. 'महादेवी की रहस्य-साधना'—विश्वम्भर 'मानव', पृष्ठ २२-२३-२४.
३. 'सुमित्रानन्दन पन्त'—पृष्ठ ३.
४. 'विचार और अनुभूति'—पृष्ठ २३.
५. वही, पृष्ठ २६.
६. वही, पृष्ठ २३.
७. वही, पृष्ठ २७.

पर आश्रित न होकर कहीं भावना, कहीं चिन्तन और कहीं केवल मन की छलना पर ही आश्रित हैं।[1] शिवदानसिंह चौहान ने 'छायावादी कविता में असन्तोष की भावना' को सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान दिया और उसकी समाजवादी पर्यालोचना करते हुए लिखा :

'छायावाद का कवि अपने भावों पर चारों ओर बन्धन-ही-बन्धन देखता है। उसके अध्ययनों सुख-स्वप्न टूट चुके हैं। वह सामाजिक जीवन की चेतना को विकराल और भयावह पाता है। उसकी चेतना आज उसे ही काट रही है। पूँजीवाद की तरह उसकी चेतना भी आज मानवता का प्रतिनिधित्व नहीं करती। निदान इतना क्रन्दन-रुदन, इतनी निराशावादिता।'[2]

चौहान जी ने असन्तोष के साथ पलायन की प्रवृत्ति पर भी विशेष बल दिया परन्तु पलायन छायावादी भाव-धारा का मौलिक आधार नहीं है, इस ओर नगेन्द्र जी तथा महादेवी जी दोनों ने ही संकेत किया है।[3] डॉ० देवराज ने निम्न शब्दों में उसका सतर्क प्रतिवाद किया है :

'वस्तुतः छायावादी काव्य की प्रेरक शक्ति प्रकृति के कोमल सूक्ष्म रूपों का आकर्षण है न कि सामाजिक वास्तविकता का विकर्षण, उसके मूल में प्रेम और सौन्दर्य की वासना है न कि आध्यात्मिक पूर्णता की भूख।'[4]

छायावाद के पतन के हेतुओं का निर्देश करते हुए उन्होंने अन्यत्र छायावादी काव्य के आध्यात्मिक होने का भी प्रतिवाद किया है :

'प्रथम तो हम मानते हैं कि छायावादी काव्य धार्मिक या आध्यात्मिक नहीं है, किन्तु यदि वह ऐसा होता तो भी इस धर्म-प्राण देश में जनता उससे इतनी जल्दी न ऊबती।'[5]

निष्कर्ष रूप में वे छायावाद की कल्पनाशीलता को उसके पतन का चरम हेतु स्वीकार करते हैं और उसकी विभिन्न प्रवृत्तियों को अनुभूति-जन्य न मानकर कल्पना-जन्य मानते हैं। छायावाद के सम्बन्ध में उनकी कतिपय अन्य धारणाएँ भी महत्त्वपूर्ण हैं। उदाहरणार्थ :

'उसकी अभिरुचि का केन्द्र मनुष्य है, ईश्वर नहीं, यह लोक है, परलोक नहीं। छायावाद आधुनिक पौराणिक धार्मिक चेतना के विरुद्ध आधुनिक लौकिक चेतना का

---

१. 'सुमित्रानन्दन पन्त,' पृष्ठ ४७.

२. 'प्रगतिवाद', पृष्ठ ३७.

३. (i) आज के आलोचक इसे पलायन कहकर तिरस्कृत करते हैं, परन्तु यह वास्तव को वायवी या अतीन्द्रिय रूप देना ही है—जो मूल रूप में मानसिक कुण्ठाओं पर आश्रित होते हुए भी प्रत्यक्ष रूप में पलायन नहीं है।

—'विचार और अनुभूति', पृष्ठ ४४.

(ii) ···तब हम कैसे कह सकते हैं कि केवल संघर्षमय यथार्थ-जीवन से पलायन के लिए ही उस वर्ग के कवियों ने सूक्ष्म भाव-जगत् को अपनाया।

—'महादेवी का विवेचनात्मक गद्य', पृष्ठ ७४—७५.

४. 'छायावाद का पतन', पृष्ठ ६.

५. वही, पृष्ठ ३.

विद्रोह था।'[1]

'ऐतिहासिक दृष्टि से छायावाद-युग का वातावरण आध्यात्मिकता के उपयुक्त न था।'[2]

संक्षेप में पूर्व उल्लिखित मत की तुलना में यह मत अधिक वैज्ञानिक, अधिक बुद्धिगम्य तथा अधिक संगत एवं समीचीन प्रतीत होता है। छायावाद की भावभूमि का बहुत-कुछ यथार्थ रूप उक्त स्थापनाओं से प्रकट हो जाता है।

वस्तुतः छायावादी काव्य को आध्यात्मिक कहना लगभग वैसा ही है जैसा जयदेव के 'गीत-गोविंद' और विद्यापति के पदों को भक्ति-काव्य मानना। उसमें शृङ्गारिकता—न स्थूल सही सूक्ष्म ही सही—की मात्रा इतनी अधिक है कि किसी प्रकार उसकी लौकिक प्रेरणा को उपेक्षित नहीं किया जा सकता। प्रायः सभी छायावादी कवियों की प्रारम्भिक रचनाओं से लौकिक प्रेरणा का स्वर अलग पहचाना जा सकता है।

'रश्मि' और 'नीहार' की निम्न लिखित पंक्तियों में आधार की अलौकिकता की अपेक्षा लौकिकता ही अधिक झलकती है :

(i) सजनि कौन तम में परिचित सा, सुधि सा, छाया-सा आता। 'रश्मि'

(ii) मेरे नीरव मानस में वे धीरे-धीरे आये। 'नीहार'

'आँसू' के प्रथम रूप में उतनी रहस्यवादिता न थी जितनी बाद के परिवर्धित रूप में आ गई। 'बाँधा था विधु को किसने उन काली जंजीरों से' अथवा 'मुख कमल समीप सजे थे दो किसलय-दल पुरइन के' से जिस सौन्दर्यमय व्यक्तित्व की ओर संकेत किया गया है उसके मिलन की अनुभूति न अतीन्द्रिय हो सकती है और न आध्यात्मिक। वह इतनी तीव्र अवश्य रही होगी कि उसकी अभिव्यक्ति 'कुछ शेष चिह्न हैं केवल मेरे उस महा मिलन के' के द्वारा ही सम्भव हो सकी। पन्तजी की 'आम्रतरु' वाली कविता तथा निराला की 'जूही की कली' भी इसी बात का प्रमाण है कि छायावादी कवियों को प्रेरणा किसी अज्ञात प्रियतम से न प्राप्त होकर ज्ञात प्रियतम से ही प्राप्त हुई।

कहा जा सकता है कि जिस प्रकार सूफियों में 'इश्क मजाजी' 'इश्क हकीकी' में परिणत हो जाता था उसी प्रकार छायावाद में लौकिक अनुभूतियाँ अलौकिक अनुभूतियों में परिणत हो गईं। अनेक भक्तों में भी लौकिक प्रेम अलौकिक रूप धारण करता देखा गया है। यहाँ पहले तो इश्क हकीकी या अलौकिक प्रेम-जैसी कोई वस्तु होती भी है इसी पर शंका होती है। यदि उसे स्वीकार भी कर लिया जाय तो भी सूफियों और भक्तों में संसार के प्रति जो विराग भाव मिलता है वह छायावादी काव्य में उपलब्ध नहीं होता। वास्तव में संसार की अस्थिरता तथा जीवन की दुःखमयता के प्रति सूफियों तथा भक्तों का दृष्टिकोण विरागात्मक है और छायावादी कवियों का रागात्मक। छायावादी काव्य का सूक्ष्म परिशीलन करने पर भी यह कहीं ज्ञात नहीं होता कि कब कवि ने लौकिक प्रेरणा को छोड़ा और कब अलौकिक को ग्रहण किया।

ऐसी दशा में या तो यही सत्य प्रतीत होता है कि प्रारम्भिक कविताओं में व्यक्त होने वाली एहिक आकांक्षाओं की ही अभिव्यक्ति रहस्यानुभूति के नाम से की गई। लोगों को भ्रम

१. 'छायावाद का पतन,' पृष्ठ १४.

२. वही, पृष्ठ १५.

लाक्षणिकता के सौन्दर्यमय आवरण के कारण हुआ जो आज भी सम्भव है। छायावाद के उत्तरांश में जिन कवियों ने उस लाक्षणिकता से अपनी भावनाओं को आवृत नहीं किया उनमें वास्तविकता ऊपर आकर बोल उठी। भगवतीचरण वर्मा, बच्चन, तथा अंचल आदि कवियों की कविताएँ इसकी साक्षी हैं। इस प्रकार छायावाद का आदि और अन्त दोनों ही उसकी आध्यात्मिक व्याख्या के विरुद्ध सिद्ध होते हैं। आध्यात्मिकता का आरोप जिन कविताओं पर किया जाता है उनका वैसा प्रभाव नहीं पड़ता। व्यक्तिगत जीवन की सीमाओं को यह आरोप तिरोहित नहीं कर पाता। कविताओं में सर्वप्रमुख रूप से व्याप्त निराशा किसी भी कवि को कबीर-जैसी निर्भीकता से कहने नहीं देती :

हम न मरै मरिहै संसारा।
हमका मिला जियावन हारा॥

और न रवीन्द्रनाथ के गीतों की तरह उनमें मुक्त उल्लास एवं आनन्द की ही अभिव्यक्ति है। छायावादी काव्य के निराशावाद को न तो हम सर्वात्मवाद की करुणा का रूप कह सकते हैं और न परमात्मा के वियोग में आत्मा की व्यथा। वह निश्चय ही लौकिक भावभूमि का प्रमाण है और उसकी समाजवादी व्याख्या बहुत-कुछ सही है। पाश्चात्य प्रभाव ने भी युग को बौद्धिकता की ओर मोड़ा, अध्यात्म की ओर नहीं।

भौतिकवाद को ही सब-कुछ न समझकर चेतन अथवा आत्मा पर विश्वास करने वाला व्यक्ति भी कह सकता है कि छायावादी कविता मन के स्तर से गहरी नहीं गई है। उसमें आत्मानु-भूति है आत्मा की अनुभूति नहीं। छायावाद के अनुभूति-पक्ष की सीमा वहीं तक है जहाँ तक मन की गति है और दार्शनिक पक्ष की जिज्ञासा कुतूहल और विस्मय तक। छायावाद के विस्तृत काव्य-क्षेत्र में अनेक स्थल हैं जिनमें कवियों की वास्तविक जिज्ञासा व्यक्त हुई है :

(i) न जाने नक्षत्रों से कौन।
निमंत्रण देता रहता मौन—पन्त

(ii) फिर विकल हैं प्राण मेरे,
तोड़ दो यह क्षितिज मैं भी देख लूँ उस ओर क्या है
जा रहे जिस पंथ से युगकल्प उसका छोर क्या है।
क्यों मुझे प्राचीर बनकर आज मेरे श्वास घेरे।

महादेवी

ये तत्त्व छायावादी कवियों में न्यूनाधिक अंशों में अवश्य विद्यमान थे इसीलिए प्रसादजी द्वारा 'कामायनी' (विशेष रूप से अन्तिम तीन सर्ग) रची गई, महादेवी जी ऋचाओं के अनुवाद की ओर प्रवृत्त हुईं, पन्तजी ने अरविन्द के आध्यात्मिक दर्शन से प्रभावित होकर 'उत्तरा' आदि अपनी नवीन कृतियाँ प्रस्तुत कीं और निराला ने 'अर्चना' में मध्यकालीन भक्त का स्वर अपनाया। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि समस्त छायावाद आध्यात्मिक भावभूमि पर स्थित समझा जाय। वस्तुतः यह प्रवृत्ति छायावादी कवियों में छायावाद का युग समाप्त हो जाने के बाद परिलक्षित हो रही है और इसी से प्रमाणित होता है कि छायावादी काव्य आध्यात्मिक काव्य नहीं है।

छायावाद की भावभूमि को लौकिक रूप में ग्रहण करने के पक्ष में अपना मत देते हुए भी मैं एक बात कहना अत्यन्त आवश्यक समझता हूँ और वह यह कि मेरी दृष्टि में दोनों ही मत

वास्तविकता को कुछ-न-कुछ विकृत रूप में प्रस्तुत करते हैं। जहाँ तक आध्यात्मिकता के प्रतिवाद तथा वस्तु सत्य की परख का सम्बन्ध है वहाँ तक तो मानसिक कुण्ठाओं के रूप में की गई व्याख्या ग्राह्य है, परन्तु छायावादी काव्य में व्यक्त भावों को प्रकृत रूप में न देखकर दमित वासनाओं और कुण्ठाओं के ही रूप में देखना उतना ही विकृत है जितना फूलों में खाद को देखना। फूल धरती के हैं वे आकाश-कुसुम नहीं हैं इतना ज्ञान ही पर्याप्त है। छायावादी काव्य में व्यक्त भावनाएँ भी इसी धरती की भावनाएँ हैं, उतनी ही सामान्य है जितना सामान्य मनुष्य। उसकी आध्यात्मिक व्याख्या करना मनुष्य को स्वर्ग-लोक का प्राणी कहना है।

दमित वासनाओं की अभिव्यक्ति को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से ही ग्रहण करना होगा। यदि यह कहने से हीनता व्यंजित करने का अभिप्राय हो तो मैं उसका प्रतिवाद करता हूँ। छायावादी काव्य का सौन्दर्य उसे मानवीय भावों की अभिव्यक्ति मानने पर किसी प्रकार कम नहीं होता। वैज्ञानिक तथ्य को वैज्ञानिकतया ही स्वीकार करना होगा। उसे छायावादी काव्य के मूल्यांकन में आवश्यकता से अधिक प्रश्रय देना भी उचित नहीं है।

श्रीमती विजय चौहान

प्रगतिवाद

: १ :

सन् १९३६ में प्रगतिशील लेखक-संघ के जन्म के साथ भारतीय भाषाओं के साहित्यों में भी मार्क्सवादी विचार-धारा का प्रभाव मुखर हो उठा। प्राचीन समीक्षा-शास्त्र की बगल में और एक सीमा तक उसके विरोध में साहित्य का एक नया दृष्टिकोण सामने आया, जिसे आगे चलकर हिन्दी-साहित्य में 'प्रगतिवाद' के नाम से पुकारा गया। ऐतिहासिक भौतिकवादी दृष्टिकोण से विभिन्न देशों के मार्क्सवादी आलोचक पिछली शताब्दी से ही जिस वैज्ञानिक सौन्दर्य-शास्त्र की रचना करते आए हैं, 'प्रगतिवाद' वस्तुतः उसका ही भारतीय नामकरण है।

साहित्यालोचन के इस नये दृष्टिकोण ने अनेक तात्विक और व्यावहारिक प्रश्न उठाए हैं और अपने वस्तुवादी जीवन-दर्शन की सहायता से उनका विवेचन करके उनके समाधान भी उपस्थित किये हैं। साहित्य और कला क्या है, और मूल्यांकन की समस्या क्या है? इन दो मूल प्रश्नों तथा इनसे सम्बद्ध अनेक दूसरे प्रश्नों को उठाकर 'प्रगतिवाद' ने अपनी वैज्ञानिक स्थापनाओं से साहित्य-शास्त्र को नई दृष्टि दी है।

यह अलग बात है कि अनेक 'प्रगतिवादी' आलोचक अपने वक्तव्यों और विवेचनों में मार्क्सीय सौन्दर्य-शास्त्र की वैज्ञानिक पद्धति का पालन नहीं कर पाये और विशेष स्थानीय प्रभावों के कारण उनकी आलोचना-दृष्टि पथ-भ्रष्ट होकर मूलतः फ्रांसीसी इतिहासकार 'टेन' (Hippolyte Taine) के सापेक्षतावादी सौन्दर्य-सिद्धान्त का अनुगमन करने लगी, जिससे प्रभाव ग्रहण करके रूसी विचारक प्लेखानोफ (Art & Society) ने साहित्य के सम्बन्ध में मार्क्सीय विचार-धारा को कुत्सित समाजशास्त्रीयता के बीहड़ जंगल में भटका दिया था। इस कुत्सित समाज-शास्त्रीय सापेक्षतावाद ने साहित्य और कला की कृतियों, शैलियों (तथा इससे भी अधिक, जन्म या सामाजिक स्थिति के आधार पर साहित्यकारों—कलाकारों) के वर्ग-आधार को ढूँढ निकालने में अपने आलोचक-कर्म की इतिकर्तव्यता समझ ली। बहुत दिनों तक मार्क्सवादी आलोचक इस बीहड़ जंगल में भटकते रहे और मार्क्स-लेनिन के कला-सम्बन्धी सिद्धान्तों की उपेक्षा करते रहे। मूल्यांकन के नाम पर किसी कृति को मनमाने ढंग से 'सामन्ती', पूँजीवादी (बुर्जुआ) या प्रोलेतेरियन-जैसे तीन-चार खानों में ठूँस-ठाँसकर रख देना और कलाकारों को इनमें से किसी-न-किसी वर्ग का प्रतिनिधि घोषित कर देना ही उनके निकट सबसे महत्त्व का प्रश्न बन गया। एक लम्बे सैद्धान्तिक संघर्ष के बाद अन्य देशों के मार्क्सवादी विचारक अपने ही बीच के कुत्सित समाज-शास्त्रियों और उनके अनैतिहासिक, अवैज्ञानिक और कुरुचिपूर्ण दृष्टिकोण को नंगा कर देने में सफल हुए हैं, किन्तु अभी तक हिन्दी में 'प्रगतिवाद' के नाम पर कुत्सित समाज-शास्त्रीयता का ही बोलबाला है जिससे प्रगतिवाद के विरोधियों को उस पर गलत आरोप लगाने का अवसर

मिलता गया है।

और यह बात भी अलग है कि 'प्रगतिवादी' दृष्टिकोण से प्रभावित कवियों और कथा-कारों ने हिन्दी में जो साहित्य रचा वह कला की दृष्टि से (जिसमें विचार-वस्तु और रूप-तत्त्व अन्योन्याश्रित होते हैं) बहुधा उच्च कोटि का नहीं हो पाया। बल्कि यदि समग्र रूप से देखें तो रवीन्द्र, शरत्, प्रेमचन्द और जैनेन्द्र का यथार्थवाद और छायावादी कवियों की मार्मिकता भी इन रचनाओं में नहीं है। इसमें जो कोरी 'नारेबाजी का साहित्य' (!) नहीं है वह भी अधिकतर साधारण कोटि का ही है। उसमें जीवन-यथार्थ के उपर से प्रत्यक्ष दीखने वाले अंगों का ही यथा-तथ्य (प्रकृत, नैचुरलिस्टिक), रूप-रस-वर्ण-गन्धहीन, उथला-पुथला चित्रण है; जो युग-सत्य का उद्घाटन न करके उसे एकांगी और विकृत बना देता है। उसमें जिन पात्रों का चित्रण हुआ है वे प्रतिनिधि मानव-चरित्र (टाइप) नहीं, बल्कि यन्त्रवत् लेखक की इच्छा-अनिच्छा पर उठने-बैठने-बोलने वाली कठपुतलियाँ हैं, जो सजीव न होकर विचारों और वर्गों की 'प्रतीक' हैं। इस नये साहित्य में नई विचार-वस्तु को अधिकतर ऊपर से ठूँसकर क्रान्ति-कारिता का आभास पैदा किया गया है। वास्तव में उसमें नया कुछ भी नहीं है, वह विचारों को स्फूर्ति और प्रेरणा नहीं देता और न भावनाओं को अधिक संवेदनशील, उदात्त और मानवीय बनाता है, क्योंकि उसमें यथार्थ का वेदन नहीं है। दुर्भाग्य से यशपाल, कृष्णचन्द्र, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', रांगेय राघव, राहुल सांकृत्यायन-जैसे प्रमुख कथाकार भी, अपने प्रगतिवादी दृष्टिकोण के बावजूद, इस ह्रासोन्मुखी कला-दृष्टि से अपने को सर्वथा मुक्त नहीं कर पाये। उन्होंने भी यह प्रभाव देश-काल की विशिष्ट परिस्थितियों से ही ग्रहण किया है, जिससे वे अपनी कला-सम्बन्धी समस्याओं का सही समाधान खोजने में एक सीमा तक असमर्थ रहे हैं।

परन्तु नये साहित्य में या प्रगतिवादी आलोचना में यदि यह विकृतियाँ आई हैं और किन्हीं कारणों से हमारे देश में आज भी नये साहित्यकार प्रकृत-चित्रण (नैचुरलिज्म) और अधिकतर प्रगतिवादी आलोचक कुत्सित समाज-शास्त्रीयता की ही ओर बरबस आकृष्ट होते हैं तो इससे 'प्रगतिवाद' के वास्तविक दृष्टिकोण और उसकी साहित्य-कला-सम्बन्धी स्थापनाओं का मूल्य किसी भी अंश में कम नहीं हो जाता। कुत्सित समाज-शास्त्रीयता की अनैतिहासिक, अवैज्ञानिक और सापेक्षतावादी प्रवृत्ति केवल एक परिस्थितिजन्य सामयिक विकृति है, जिस प्रकार 'कला के लिए कला' का सिद्धान्त और प्रतीकवाद, प्रकृतवाद, रूपवाद, चित्र-कल्पनावाद आदि की प्रवृत्तियाँ ह्रासोन्मुखी समाज की परिस्थिति जन्य सामयिक विकृतियाँ हैं। अन्ततः प्रगतिवाद का वैज्ञानिक दृष्टिकोण ही विजयी होगा, क्योंकि वह ऐतिहासिक भौतिकवादी है और विश्व की श्रेष्ठतम कला और साहित्य की परम्पराओं के सांगोपांग अध्ययन-विवेचन के द्वारा विकसित हुआ है और हो रहा है। इसके साथ ही हमारे यहाँ का प्राचीन काव्य-शास्त्र और उसके सिद्धान्त यद्यपि अपने में सम्पूर्ण दिखते हैं, किन्तु फिर भी न तो वे कला और साहित्य-सम्बन्धी उन मौलिक प्रश्नों का समुचित उत्तर ही दे सकते हैं जिन्हें 'प्रगतिवाद' ने उठाया है और न वे हमें प्राचीन अथवा आधुनिक साहित्य का सही-सही कलात्मक – अतः सामाजिक—मूल्य आँकने की पर्याप्त गहरी ऐतिहासिक तथा सौन्दर्यबोधिनी अन्तर्दृष्टि ही देते हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि प्राचीन काव्य-शास्त्र में अब ऐसे तत्त्व नहीं रहे जो उपयोगी हों; या नया साहित्यकार अपनी कृति में रस और काव्यानन्द की सृष्टि न करके उसे नीरस बना दे और नया पाठक उसकी कृति

से मनोरंजन की अपेक्षा ही न रखे; या नये साहित्य के रूप-विन्यास और रचना-तन्त्र में अलंकार, वक्रोक्ति, गुण और ध्वनि आदि का कलात्मक समाहार निष्प्रयोजन समझा जाय; या नया आलोचक प्राचीन समीक्षा-शास्त्र की शब्दावली को त्यागकर सर्वथा नये शब्द-संकेत गढ़े। प्राचीन मनीषियों और विचारकों की देन के प्रति ऐसा नकारात्मक दृष्टिकोण प्रगतिवाद का न था, न है। वस्तुतः प्रगतिवादी विचारकों का आरम्भ से ही यह दृष्टिकोण रहा है कि वैज्ञानिक सौन्दर्य-शास्त्र का निर्माण तभी हो सकेगा, जब आदि काल से लेकर आज तक साहित्य-कला-सम्बन्धी जो अनुभव-सिद्ध और मूर्त सत्यान्वेषी उद्‌भावनाएँ होती आई हैं, उन सबका ऐतिहासिक भौतिकवाद के वैज्ञानिक दृष्टिकोण से एक व्यापक सौन्दर्य-सिद्धान्त के अन्तर्गत समाहार और समन्वय किया जाय।

सम्भवतः इसीलिए प्रारम्भ में 'प्रगतिवाद' ने अधिकतर वे प्रश्न ही उठाए जो आधुनिक जीवन और आधुनिक कला-साहित्य के विशिष्ट विकास ने अनिवार्य रूप से उपस्थित कर दिए हैं, और जिन पर वैज्ञानिक रीति से विचार करना आधुनिक विज्ञान और ऐतिहासिक भौतिकवादी दृष्टिकोण ने सम्भव बना दिया है। प्राचीन काव्य-शास्त्र के विवेचक आचार्यों के सम्मुख ये प्रश्न इस रूप में न उठे थे, न उनका वैज्ञानिक उत्तर दे सकना ही उस समय उनके लिए सम्भव था। ऐतिहासिक भौतिकवादी दृष्टि से प्राचीन भारतीय काव्य-शास्त्र के सिद्धान्तों का विवेचन करके प्रगतिवादी सौन्दर्य-शास्त्र उन्हें किस रूप में और किस सीमा तक ग्रहण कर लेगा, इस बारे में मैं जल्दी ही कोई मत प्रकट करना उचित नहीं समझती। यद्यपि यह कह देना अवश्य निरापद होगा कि हिन्दी के प्रगतिवादी आलोचकों ने अपने दायित्व को समझकर अभी तक गम्भीरता से प्राचीन सिद्धान्तों का अध्ययन-विवेचन नहीं किया है।

: २ :

प्रगतिवाद की दृष्टि में स्वयं कला क्या है—इस प्रश्न का वैज्ञानिक समाधान पाना ही सबसे मौलिक समस्या है, क्योंकि और सब समस्याओं, जैसे वास्तविकता से कला का क्या सम्बन्ध है, कला-निर्माण की पद्धति क्या है अर्थात् कला में विचार-वस्तु और रूप-तत्त्व का समन्वय कैसे होता है और कला किस प्रकार वास्तविकता (रियलिटी) को प्रतिबिम्बित करती है, कला का सामाजिक प्रयोजन क्या है और वर्ग-समाज हो या वर्गहीन समाज, श्रेष्ठ कलाकार क्योंकर मानव-आत्मा का शिल्पी होता है और इस प्रकार समग्र मानवता का सजग सत्यान्वेषी पक्षधर बनता है तथा इस कर्तव्य से च्युत होकर वह किस प्रकार अपनी कला का ही हनन कर बैठता है आदि सभी समस्याओं का समाधान इस मौलिक प्रश्न के ही आश्रित है।

कला क्या है?—इस प्रश्न के उत्तर अरस्तू और भरत मुनि के समय से साहित्य-कला के आचार्य देते आए हैं, किन्तु उनका उल्लेख यहाँ प्रासंगिक न होगा। मार्क्सीय ऐतिहासिक भौतिकवादी दृष्टिकोण से कला भी एक प्रकार की सामाजिक चेतना है, या कहें, कला सामाजिक चेतना का एक विशिष्ट रूप है जिसके माध्यम से मनुष्य का मानस सामाजिक वास्तव (सोशल रियलिटी) को प्रतिबिम्बित करता है। आदि काल से लेकर आज तक की कला और साहित्य का इतिहास इस बात का साक्षी है कि हर काल और हर युग में कला वास्तविकता या जगत् के मार्मिक बोध का ही साधन रही है। सामाजिक सम्बन्धों में पड़कर मनुष्य अपने चतुर्दिक् जगत् के बारे में क्या सोचता-समझता है और सक्रिय रूप से उसे कैसे बदलता है, कला के माध्यम से

उसने अपनी इस सामाजिक चेतना को ही अभिव्यक्ति दी है। सामाजिक चेतना का विशिष्ट रूप होने के कारण कला मनुष्य के सत्य का उद्घाटन करने और उसका बोध कराने का साधन है। मनुष्य का सत्य कोई निर्विकार, निराकार, निरपेक्ष, कालातीत वस्तु नहीं है जो अलग से प्रत्येक मनुष्य में निहित हो। वास्तव में बाह्य प्रकृति के विरुद्ध संघर्ष-रत मनुष्यों के सामाजिक सम्बन्धों का सत्य ही मनुष्य का सत्य है। व्यापक अर्थ में मानव-जीवन के निरन्तर परिवर्तनशील समाज-सम्बन्धों को ही मनुष्य की चेतना प्रतिबिम्बित करती है।

कलाकार मानवता के संघर्ष का अगुआ है, क्योंकि अधिक संवेदनशील प्राणी होने के कारण वह वास्तविकता के नित्य नये पहलुओं का उद्घाटन करता जाता है और मनुष्य के भाव-विचारों को नई स्फूर्ति, मनुष्य की चेतना को नई संवृद्धि देता हुआ मनुष्य को अधिक मानवीय और सौन्दर्यप्रिय बनाता जाता है। साहित्य और कला का यही प्रयोजन है।

प्रगतिवाद के इस प्रतिबिम्बन के सिद्धान्त को भारतीय प्रतिबिम्बवाद का प्रतिरूप नहीं समझ लेना चाहिए। भारतीय प्रतिबिम्बवाद के अनुसार ब्रह्म बिम्ब है और जगत् उसका प्रति-बिम्ब। किन्तु मार्क्सीय भौतिकवादी दर्शन के अनुसार भौतिक जगत् या वास्तविकता ही बिम्ब है और मनुष्य का मानस या उसकी चेतना उसको प्रतिबिम्बित करके उसका बोध कराती है। साहित्य और कला भी वास्तविकता को ही प्रतिबिम्बित करती है।

प्रगतिवाद के इस प्रतिबिम्बन के सिद्धान्त को किंचित् विस्तार से समझ लेना होगा। इस सिद्धान्त का सम्बन्ध रूपगत प्रकृत चित्रण से नहीं है। अर्थात् श्रेष्ठ कला में वास्तविकता का प्रतिबिम्ब हू-बहू उसकी अनुकृति नहीं होता। प्राचीन काल में अफ़लातून, अरस्तू आदि ने प्रकृत की अनुकृति (इमीटेशन) को ही कला की सचाई की कसौटी माना था। किन्तु यदि ध्यान से देखें तो स्पष्ट हो जायगा कि अनुकरण का सिद्धान्त वस्तुतः रूपवादी है और उसका 'यथार्थ-वाद' कला के रूप-तत्त्व (फ़ॉर्म) तक ही सीमित है। यह वस्तु (ऑब्जेक्ट) का ज्यों-का-त्यों चित्रण कर देने का ही सिद्धान्त है। इस दृष्टि से यदि एक युवती का चित्र है तो उसके नख-शिख का ज्यों-का-त्यों अविकृत खाका खींच देना ही कला की श्रेष्टता का प्रमाण माना जायगा। किन्तु प्रगतिवाद इस प्रकार के यथारूप-चित्रण को एकांगी ही नहीं कला की मूल प्रकृति के विरुद्ध भी समझता है। यद्यपि भौतिक जगत् (वास्तविकता) का अस्तित्व मनुष्य की चेतना पर निर्भर नहीं करता और उसकी स्वतन्त्र इयत्ता है—यानी विषयी (सब्जेक्ट या मनुष्य) से बाहर भी विषय (आब्जेक्ट-प्रकृति) की सत्ता है, लेकिन साथ ही यह भी निश्चित है कि मनुष्य भौतिक जगत् या वास्तविकता का अविच्छिन्न अंग है और इस वास्तविकता को बदलने, अपने अनुकूल बनाने के निमित्त विषयी रूप में हमारी संवेदनात्मक ऐन्द्रिक क्रियाशीलता का जो प्रतिबिम्ब हमारे मानस पर पड़ता है—उसी से चेतना का जन्म होता है। प्रकृति को बदलने, अपने अनुकूल बनाने वाली इस चिरकालिक क्रियाशीलता का एक अंग ही कला है। कला किसी शाश्वत या परिवर्तनशील प्रकृति की अनुकृति नहीं है कि विषय (ऑब्जेक्ट) के रूप में मनुष्य निस्संग और निर्विकार मन से उसका मनन-चिन्तन करते रहें; बल्कि वह जीवन की मार्मिक छवियों के द्वारा मनुष्य-समाज के यथार्थ-सत्य का प्रतिबिम्बन करती है। इसलिए प्रगतिवाद यथारूप अनुकृति को नहीं, 'यथार्थवाद' को कला की श्रेष्ठ कसौटी मानता है। यथार्थवाद को इसलिए कि उसका सम्बन्ध कला के रूप-तत्त्व से नहीं, बल्कि विचार-तत्त्व या विषय-वस्तु (कण्टेण्ट) से है। कलाकार

वास्तविकता के किसी विशिष्ट अंग या सत्य का उद्घाटन करने के लिए जिस विचार का प्रेषण करना चाहता है—कला के रूप-तत्त्व की समस्या उसे जीवन की मूर्त और मार्मिक छवियों के द्वारा पूरी तरह अभिव्यक्ति देने और उस विशिष्ट छवि का साधारणीकरण करके उसे सबके लिए अर्थ-वान बनाने की समस्या है। अर्थात् रूप-तत्त्व किसी मूल-विचार (कण्टेण्ट) की अभिव्यक्ति और प्रेषण का ही माध्यम है। इतिहास साक्षी है कि प्राणवान् और श्रेष्ठ कला के निर्माताओं ने यथार्थ या वास्तविकता की किसी परिकल्पना को ही, मानव-जीवन के किसी सत्य या रहस्य को ही उद्घाटित करने के लिए मनोनुकूल रूप-विधानों का आश्रय लिया है। परियों की कथाओं, अन्योक्ति-विधानों और धार्मिक रचनाओं में भी यथार्थ जीवन का देश-काल-सापेक्ष्य सत्य ही प्रति-बिम्बित हुआ है। यथार्थ केवल वही नहीं है जो प्रत्यक्ष दिखता है, सीधे तौर पर अनुभवगम्य है, अर्थात् जो वर्तमान में है। प्रकृति और मानव-जीवन (वास्तविकता) निरन्तर परिवर्तनशील है। उसका अतीत भी है और भविष्य भी। कोई भी वस्तु आत्म-निर्भर नहीं है। असंख्य सीधे और परोक्ष सम्बन्धों-अन्तर्सम्बन्धों द्वारा अन्य वस्तुओं से जुड़ी हुई है। इसलिए वास्तविकता के यथार्थ को कलात्मक रूप से प्रतिबिम्बित करने का तात्पर्य यह है कि कलाकार जिस केन्द्रीय विचार को अभिव्यक्ति देना चाहता है उसका वैविध्यपूर्ण, सर्वांगीण, अन्तरंग और मूर्त चित्रण करे ताकि वह केन्द्रीय विचार अपने समस्त अन्तर्सम्बन्धों के साथ उद्घाटित हो जाय। श्रेष्ठ कला के निर्माण की यही प्रणाली है, और कोई नहीं। प्रेमचन्द ने 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' को श्रेयस्कर माना था। प्रकृतवाद या यथार्थ के फोटोग्राफिक हू-बहू चित्रण को अक्सर 'यथार्थवाद' की संज्ञा दी जाती रही है, क्योंकि इस प्रकार केवल कला के रूप-तत्त्व (फॉर्म) से ही उसका सम्बन्ध जोड़ देने से उस पर सहज ही आक्रमण किया जा सकता है। प्रेमचन्द ने इसीलिए 'यथार्थवाद' के साथ 'आदर्शोन्मुखता' का संयोग किया था, क्योंकि एक श्रेष्ठ कलाकार होने के नाते वे केवल वास्तविकता के उस रूप से ही सन्तुष्ट न थे जो 'है' बल्कि उसके सत्य का उद्घाटन करने के लिए यह दिखाना भी ज़रूरी समझते थे कि वह 'क्या था' और क्या होने वाला है या 'होना चाहिए।' वास्तव में यही 'यथार्थवाद' है, क्योंकि वास्तविकता गतिशील है। हमारे एक प्रगतिवादी (या कुत्सित समाज-शास्त्री) आलोचक[1] हैं, जो इस बात को न समझ पाकर 'आदर्शोन्मुख' शब्द का प्रयोग करने के लिए प्रेमचन्द पर ही पिल पड़े। उन्होंने इस बात का भी ध्यान न रखा कि दार्शनिक विचार-धारा के रूप में 'आदर्शवाद' का जो अर्थ है, साधारण प्रयोग में 'आदर्शवाद' का अर्थ उससे सर्वथा भिन्न है। एक जगह आदर्शवाद का अर्थ अध्यात्मवाद है तो दूसरी जगह उसका अर्थ कोई मानवीय नैतिक-सामाजिक लक्ष्य-मात्र है। प्रेमचन्द ने इस दूसरे अर्थ में ही इस शब्द का प्रयोग किया था, क्योंकि वे सम्भवतः यह न जानते थे कि 'यथार्थवाद' के अन्दर यथार्थ जीवन की सम्भावनाएँ भी निहित हैं। उदाहरण के लिए 'वर्गहीन साम्यवादी समाज' की ओर इतिहास प्रगति कर रहा है तो वह हर देश की शोषित-पीड़ित मानवता का लक्ष्य भी है, और आदर्श भी। इसलिए एक सच्चा कलाकार जब वास्तविकता को प्रतिबिम्बित करता है तो यथार्थ रूप में, अर्थात् दैनन्दिन जीवन में जो-कुछ साधारणतः घटित होता रहता है उस सबको ज्यों-का-त्यों नहीं चित्रित कर देता, बल्कि ऐतिहासिक सम्भावना की दृष्टि से यथार्थ के सत्य को उद्घाटित करने के लिए जो भी सारपूर्ण हैं, प्रासंगिक हैं, केवल उन्हीं अंगों का चयन

१. डॉ० रामविलास शर्मा—देखिए उनकी पुस्तक 'प्रेमचन्द'

करता है। वस्तुतः कला की भाषा जीवन और इतिहास की भाषा होती है।

मनुष्य की चेतना के विशिष्ट रूप होने के नाते कला और विज्ञान दोनों ही भौतिक जगत् को प्रतिबिम्बित करते हैं और सत्य का बोध करने के साधन हैं। मनुष्य की चेतना निरपेक्ष सत्य (एब्सोल्यूट ट्रुथ) का बोध प्राप्त करने में समर्थ है—निरपेक्ष सत्य सापेक्ष्य सत्यों के समाहार का ही परिणाम होता है। इससे यह दोनों बातें सिद्ध हैं कि (१) वास्तविकता में मूलतः कोई ऐसा तत्त्व नहीं है जिसको मनुष्य की चेतना प्रतिबिम्बित नहीं कर सकती और उसे 'नेति-नेति' की आर्त्त घोषणा करनी पड़े तथा (२) अपने सक्रिय जीवनानुभव और ज्ञान की सहायता से मनुष्य की चेतना वास्तविक जगत् को प्रतिबिम्बित नहीं करती तो वह निस्सार, शून्य और खोखली ही बनी रहती है। इससे स्पष्ट है कि कला और विज्ञान, जो वास्तविकता को ही प्रतिबिम्बित करते हैं, यदि ऐसा न करते होते या न करें तो वे अर्थवान् नहीं बन सकते। 'कला के लिए कला' के नाम पर केवल रूप-तत्त्व को प्रधानता देने वाले जो अनेक प्रवाद खड़े किये जाते रहे हैं, उनकी निरर्थकता स्वयं-सिद्ध है।

कला और विज्ञान यद्यपि इस जगत् और जीवन की वास्तविकता को ही प्रतिबिम्बित करते हैं, परन्तु दोनों की प्रतिक्रियाएँ भिन्न हैं। विज्ञान 'विचारों' के रूप में वास्तविकता का बोध कराता है तो कला मार्मिक और अर्थवान् छवियों या जीवन-चित्रों के रूप में। विज्ञान अलग-अलग (विशिष्ट) तथ्यों का निरीक्षण करके उनके आधार पर सामान्य नियमों की खोज करता है, क्योंकि इन नियमों की जानकारी बाह्य प्रकृति को बदलने, नियन्त्रित करके अपने लिए उपयोगी बनाने में सहायक होती है और इस प्रकार मनुष्य की समस्त क्रियाशीलता का आधार और उत्तरोत्तर प्रकृति के अन्ध प्रकोपों से उसकी मुक्ति का साधन बनती है। इसके विपरीत कला विचारों की अमूर्त भाषा में नहीं बल्कि अर्थवान् मार्मिक छवियों या जीवन-चित्रों की भाषा में वास्तविक जगत् में होने वाली घटनाओं या उनमें भाग लेने वाले मानव-चरित्रों के सक्रिय, अन्तरंग और वैविध्य-पूर्ण चित्र अंकित करके और उनके ही माध्यम से सामान्य या प्रतिनिधि रूपों का उद्घाटन करती है। तात्पर्य यह कि विज्ञान यदि विशिष्ट तथ्यों को अमूर्त विचारों द्वारा सामान्य (जनरल) के रूप में उपस्थित करके उनकी इयत्ता को सिद्ध और प्रमाणित करता है तो कला सामान्य विचारों और धारणाओं को मूर्त, व्यक्ति-चित्रों के रूप में अंकित करती है जिससे अपने गुणों और चारित्रिक विशेषताओं के साथ वस्तुओं, घटनाओं और व्यक्तियों की निश्चित, मूर्त और विशिष्ट छवियाँ दर्शनीय और संवेदनीय हो उठें। कला इस प्रकार विशिष्ट के माध्यम से साधारण (रवीन्द्रनाथ के शब्दों में ससीम में ही असीम) की उपलब्धि कराती है।

इसके अतिरिक्त कला और विज्ञान में एक और उल्लेखनीय भेद है। विज्ञान का कोई सिद्धान्त या उसकी कोई भी स्थापना उससे अधिक व्यापक और प्रयोगसिद्ध सिद्धान्त या स्थापना द्वारा रद की जा सकती है, किन्तु कला के सम्बन्ध में ऐसा नहीं कहा जा सकता। एक कलाकृति अपने-आपमें सम्पूर्ण, अविभाज्य इकाई होती है और इसी रूप में इतिहास में अमर होती है। यह ठीक है कि देश-काल की भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में लोग उससे भिन्न-भिन्न अर्थ और प्रभाव ग्रहण करते हैं, लेकिन उसकी प्रेरणा देने की शक्ति अपनी सम्पूर्णता और अविभाज्यता में ही निहित है। कला के क्षेत्र में नये प्रयोगों और नई कृतियों के निर्माण से उसका सौन्दर्य या सत्य नष्ट नहीं हो जाता कि उसे रद्दी की टोकरी में फेंक दिया जाय। उदाहरण के लिए पृथ्वी के चारों

और सूर्य घूमता है—किसी युग के विज्ञान की यह स्थापना चाहे गलत सिद्ध होकर आज व्यर्थ हो गई हो, लेकिन वाल्मीकि, व्यास, कालिदास और तुलसीदास के काव्य-ग्रन्थ या अजन्ता के चित्र इतने युग बीत जाने पर भी व्यर्थ और निरर्थक नहीं हुए, न कभी होंगे। इतना ही नहीं, यदि एक ही विषय को लेकर बहुत कलाकार रचना करें तो उनकी कृतियाँ एक-दूसरे से सर्वथा मौलिक हो सकती हैं और वास्तविकता के विविध पहलुओं का उद्घाटन कर सकती हैं और उन सब रचनाओं से मानव-संस्कृति समृद्ध हो सकती है। कारण स्पष्ट है कि कला में अनन्त वैविध्यशालिनी वास्तविकता का कल्पनाजन्य, संवेदनात्मक प्रतिबिम्बन होता है, और वास्तविकता की ही तरह कला-कृति का निर्माण व्यक्ति-छवियों के अन्तर्सम्बन्धों और क्रिया-प्रतिक्रियाओं से ही होता है।

कला और विज्ञान के इन भेदों को इससे अधिक आगे बढ़ाकर देखना उचित न होगा, क्योंकि वैज्ञानिक या कलात्मक चेतना का सामान्य माध्यम मनुष्य के इन्द्रियज-संवेदन ही हैं जो बाह्य वास्तविकता का बिम्ब ग्रहण करके उसे पुनः प्रतिबिम्बित करते हैं। अर्थात् इस द्वैत की कल्पना कर लेना एक प्रवंचना को जन्म देना होगा कि कला की विषय-वस्तु केवल मनुष्य के भाव हैं और विज्ञान की विषय-वस्तु केवल मनुष्य के विचार हैं—एक की सत्ता भाव-पक्ष तक सीमित है और दूसरे की सत्ता केवल बुद्धि-पक्ष तक। इसका यह अर्थ भी लगाया जा सकता है कि कला में विचार-वस्तु होती ही नहीं, उसके द्वारा मनुष्य चेतना के तल पर वास्तविकता का बोध नहीं करता, बल्कि ऐन्द्रिक संवेदनों के तल पर ही उसकी अनुभूति करता है। प्रगतिवाद कलाकार की सृजन-प्रक्रिया तथा कला-कृति दोनों के लिए ऐन्द्रिक-संवेदनों तथा अनुभूति के आत्यन्तिक महत्त्व को तो स्वीकार करता है लेकिन इस अनिवार्य माध्यमिक तत्त्व को कला का मूल तत्त्व या सार तत्त्व नहीं मानता। प्रगतिवाद के अनुसार ये प्राथमिक कोटि के सहज संवेदन और अनुभूतियाँ मनुष्य के लिए तभी अर्थवान् और सुन्दर बनती हैं, जब वे पाशविक धरातल से ऊँची उठकर मानवीय बन जायँ, अर्थात् वास्तविकता के किसी सत्य को मूर्त अभिव्यक्ति दें।

कला की समस्या, इसीलिए, अर्थवान् और मार्मिक छवियों के माध्यम से वास्तविकता का सारपूर्ण चित्रण करने की समस्या है। विचार-वस्तु (कण्टेण्ट) की दृष्टि से इसका तात्पर्य है कि वास्तविकता के केवल सारपूर्ण प्रसंगों और तत्त्वों को ही चयन करके उपस्थित किया जाय, न कि इन्द्रिय-बोध से जो कुछ भी दिखाई दे, उस सबकी हू-ब हू नकल उतारी जाय। रूप-तत्त्व (फार्म) की दृष्टि से इसका तात्पर्य है कि वास्तविकता के इन सारपूर्ण प्रसंगों को सजीव ढंग से, उनके गुण और चारित्रिक विशेषताओं के साथ चित्रित किया जाय, ताकि वे सबके लिए अर्थवान् हो जायँ। कला के रूप-तत्त्व की समस्या विचार-वस्तु की अपेक्षा में ही कोई अर्थ रखती है। कलाकार का जो 'विचार' है, उसे वह कैसे कलात्मक रूप में व्यक्त करे कि वह सबके लिए प्रेषणीय बन जाय। प्रगतिवाद साधारणीकरण के प्रश्न को इस रूप में ही पेश करता है।

कलाकार मर्म छवियों के माध्यम से ही अपने विचार को मूर्त और कलात्मक बनाता है, इसलिए इस मर्म-छवि को पहले समझ लें। मर्म-छवि क्या होती है? मर्म-छवि वास्तव में विशिष्ट और सामान्य (पर्टीक्युलर और जनरल) की इकाई होती है। 'यह गुलाब का फूल है' —इसमें व्यक्तिवाचक और जातिवाचक दोनों संज्ञाओं का द्वन्द्वात्मक योग है। वस्तुतः दोनों ही एक हैं। विशिष्ट में ही सामान्य है। सामान्य विशिष्ट में है और उसी के द्वारा है। हर सामान्य विशिष्ट का ही एक अंग या पहलू होता है। प्रत्येक विशिष्ट असंख्य सूत्रों द्वारा दूसरे

विशिष्टों से सम्बद्ध होता है। विशिष्ट और सामान्य परस्पर-विरोधी हैं, अर्थात् उनका आन्तरिक संघर्ष नित्य है। उन दोनों में एकता स्थापित होती है, पर यह एकता अस्थायी, सापेक्ष्य परिस्थितिजन्य और अनित्य होती है। यह वास्तविक जगत् का नियम है। कला की दृष्टि से मर्म-छवि का अर्थ यह है कि कलाकार अपने चित्र में विशिष्ट और सामान्य की इस क्षण-कालिक, सापेक्ष्य तथा परिस्थितिजन्य एकता को चिरकाल के लिए अंकित कर देता है जिससे यह चित्र पाठक या दर्शक को संतोष प्रदान करता है। लेकिन यह चित्र तभी अर्थवान् और सम्पूर्ण बनता है जब वह इन परस्पर-विरोधी तत्वों के चिरन्तन संघर्ष को भी साथ ही उद्‌घाटित करे, ताकि उसकी कला-कृति संतोष प्रदान करने के साथ ही विचारोत्तेजक भी हो, और मनुष्य को इन दोनों तत्त्वों की ओर भी गम्भीर तथा सारपूर्ण एकता स्थापित करने के लिए संघर्ष करने की प्रेरणा दे। उदाहरण के लिए उपन्यास-साहित्य में मर्म-छवि का अर्थ होगा ऐसे सजीव, विशिष्ट मानव-पात्रों की सृष्टि करना, जिनसे वास्तविक जीवन की आभा विकीर्ण होती हो, जो केवल कटपुतली पात्र न हों, अर्थात् उन व्यक्ति-पात्रों के चरित्र, उद्योग और उनकी नियति में मानव-जीवन की वास्तविक नियति पूरी तरह अन्तर्निहित हो, जिससे वे अपनी विशिष्टता में ही सामान्य के प्रतिनिधि मानव-चरित्र (टाइप) बन सकें। प्राचीन महाकाव्यों के विशिष्ट पात्र—युधिष्ठिर, दुर्योधन, अर्जुन, द्रोपदी, कृष्ण, भीष्म, कर्ण, राम, भरत, रावण, सीता, दमयन्ती आदि, कालिदास, शेक्सपियर, गेटे, मौलियर, बाल्जक, ताल्स्ताय, गोर्की, रवीन्द्र, शरत्, प्रेमचन्द और जैनेन्द्र के अनेक पात्र ऐसे ही प्रतिनिधि मानव-चरित्र हैं जो मनुष्य के साहस, औदार्य, प्रेम, न्याय, सौन्दर्य, हीनता, असमंजस, भीरुता, नृशंसता, कायरता आदि के देश-काल-सापेक्ष्य गुणों और चारित्रिक विशेषताओं के प्रतीक हैं। अपने सीमाबद्ध जीवन की परिस्थितियों से उनका संघर्ष मनुष्य के ऐतिहासिक मुक्ति-संघर्ष का प्रतीक है। इसीलिए उनके हर्ष-विमर्ष, सफलता-असफलता, उत्साह-निराशा में प्रत्येक पाठक न्यूनाधिक मात्रा में अपने विशिष्ट जीवन और भाग्य की समस्याओं की झलक पा लेता है। इस प्रकार कला में साधारण (जनरल) का चित्रण व्यक्ति-पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं के माध्यम से ही होता है। बाह्य जीवन निश्चित परिस्थितियों से जूझते हुए व्यक्ति-विशेष की निश्चित मनःस्थितियों और भाव-विचार-प्रतिक्रियाओं का उद्‌घाटन ही 'साधारण' (जनरल या कलाकार के मूल विचार) को इस योग्य बनाता है कि पाठक या दर्शक उसकी सचाई पर विश्वास कर ले और उससे स्फूर्ति और प्रेरणा ग्रहण कर सके।

कला-कृतियों के रूप में या उनके द्वारा ही हम कला का साक्षात् करते हैं। कला-कृतियों के निर्माता कलाकार होते हैं। प्रगतिवाद सच्चे कलाकार को (अर्थात् उसे जिसने वास्तव में अमर कला-कृतियों की रचना की है या जो आज भी कर रहे हैं) मानव-आत्मा का शिल्पी मानता है, क्योंकि कला और साहित्य का इतिहास इस बात का साक्षी है कि अपनी रची श्रेष्ठ और अमर कला-कृतियों द्वारा इन कलाकारों ने, वे चाहे जिस वर्ग या समाज, देश या काल में क्यों न पैदा हुए हों, समग्र मानवता की संस्कृति को समृद्ध किया है और मनुष्य को अपने दैनंदिन जीवन की क्षुद्रताओं और सीमाओं से ऊपर उठकर अधिक मानवीय, सत्यान्वेषी, सौन्दर्य-प्रेमी, नैतिक और सामाजिक मानव बनने की प्रेरणा दी है, और किसी-न-किसी रूप में मनुष्य अपने ऐतिहासिक मुक्ति-संघर्ष में उनसे सदा ही ऐसी प्रेरणाएँ लेते जायँगे। इसी तात्विक दृष्टि से प्रगतिवाद एक सच्चे कलाकार को स्वभावतः प्रगतिशील मानता है। पर एक सच्चे कलाकार या मानव आत्मा के

शिल्पी का गौरवशाली पद किसी व्यक्ति को तभी मिला है या मिल सकेगा जब वह अपनी कला-कृति से जीवन-वास्तव को प्रतिबिम्बित करके उसके किसी-न-किसी ऐतिहासिक सत्य को उद्घाटित करता है या भविष्य में करेगा।) इसी अर्थ में सच्चा कलाकार मानवता का पक्षधर होता है। वह जीवन का निस्संग द्रष्टा नहीं सक्रिय चितेरा होता है, यानी मनुष्य के सामने देश-काल की परिस्थितियों के अनुसार इतिहास सामाजिक विकास की जो नई-नई संभावनाएँ पैदा करता जाता है और उनसे मनुष्य के कर्म-जीवन में जो नई-नई समस्याएँ उठती जाती हैं, सच्चा कलाकार इस यथार्थ को कलात्मक अभिव्यक्ति देकर मनुष्य को अपने जीवन की यथार्थ समस्याओं और सम्भाव्य समाधानों का साक्षात् कराता है, और इस प्रकार मनुष्य को कर्म की प्रेरणा देता है।

: ३ :

ऊपर के विवेचन में हमने प्रगतिवाद के दृष्टिकोण से कला क्या है, वास्तविकता से कला का क्या सम्बन्ध है, कला किस प्रणाली से वास्तविकता को प्रतिबिम्बित करती है, कला में विचार-तत्त्व और रूप-तत्त्व का संयोग किस प्रकार होता है तथा कलाकार क्योंकर मानवता की प्रगतिशील शक्तियों का पक्षधर होता है, इस मौलिक प्रश्नों का उत्तर देने का प्रयास किया है। अब हम इस दृष्टिकोण से मूल्यांकन के प्रश्न को संक्षेप में समझ लेना चाहेंगे, क्योंकि कुत्सित समाज-शास्त्रियों ने प्रगतिवादी दृष्टिकोण को व्यावहारिक आलोचना के क्षेत्र में ही सबसे ज्यादा विकृत और एकांगी बनाया है।

मूल्यांकन की समस्या क्या है? इस समस्या के दो पहलू हैं। (१) साहित्य और कला की प्राचीन कृतियाँ आज भी क्यों मूल्यवान् हैं अर्थात् हमें सौन्दर्य-बोध कराने और प्रेरणा देने में क्यों समर्थ हैं और आगे भी रहेंगी, तथा (२) आधुनिक युग में इतनी प्रचुर मात्रा में जो साहित्य रचा जा रहा है उसमें कौनसी कृतियाँ स्थायी महत्त्व की हैं, अर्थात् समग्र रूप से जीवन का वैविध्यपूर्ण, गम्भीर, यथार्थ और मूर्त चित्रण करने के कारण महान् हैं (क्लासिक हैं) उनकी पहचान करके उनके सही-सही मूल्य को कूतना। मूल्यांकन की वास्तविक समस्या यही है। आज की तरह प्राचीन युगों में भी एक ही समय में सैकड़ों कवि और कलाकार साहित्य-कला के निर्माण में संलग्न रहे हैं, लेकिन जिनमें श्रेष्ठ कलाकार की प्रतिभा न थी, उनकी मात्र सामयिक महत्त्व की कृतियाँ अपने-आप ही काल कवलित हो चुकी हैं और आज हमें प्राचीन से विरासत के रूप में जो कृतियाँ प्राप्त हैं, उनमें से कौन स्थायी महत्त्व की हैं और कौन केवल सामयिक महत्त्व की—यह प्रश्न आज हमारे सामने नहीं है। यदि कोई प्रश्न है तो केवल यह कि जो कृतियाँ हमें प्राप्त हैं उनकी सच्ची महत्ता क्या है? या फिर खोज का प्रश्न है ताकि सामयिक अरुचि के कारण कोई वास्तविक रूप से महान् कृति उपेक्षित न पड़ी हो या खो न गई हो। परन्तु जिस साहित्य और कला का निर्माण इस युग में हो रहा है, उसमें कौन वास्तव में श्रेष्ठ और स्थायी महत्त्व की है और कौन केवल सामयिक महत्त्व की, साहित्य और कला के आलोचक के ऊपर उन्हें पहचानकर बताने का दायित्व है। तभी वह श्रेष्ठ कला के विकास में और इस प्रकार मानव-संस्कृति और मनुष्य-मात्र के मुक्ति-संघर्ष की प्रगति में सक्रिय योग दे सकता है।

किन्तु मूल्यांकन की यह समस्या दो कारणों से जटिल बन गई है। एक ओर तो कला-वादी हैं जो रूपगत सापेक्षतावाद का सिद्धान्त प्रतिपादित करते हैं, दूसरी ओर कुत्सित समाज-

शास्त्री हैं जो कला के वर्ग-आधार के सिद्धान्त को विकृत करके एक दूसरे ही प्रकार का सापेक्षता-वाद प्रचारित करते हैं। इन दोनों के कथन या दृष्टिकोण एकांगी हैं, इसीलिए असत्य हैं।

कलावादियों की दृष्टि में कला की श्रेष्ठता को जाँचने की कोई सामान्य (जनरल या ऐब्सोल्यूट) कसौटी नहीं हो सकती। हर युग की कला की रूप-शैली भिन्न होती है तो उसकी श्रेष्ठता की जाँच करने की कसौटियाँ भी उस युग की परम्परा और कला-रुचि के अनुकूल ही होती हैं। दूसरे युग में कला-शैली बदलती है, तो उसके सौन्दर्य की परख करने वाली कसौटियाँ भी बदल जाती हैं और पाठक या दर्शक की रुचियाँ भी। इसलिए अजन्ता की चित्र-कला को जाँचने के लिए जो मानदण्ड उन दिनों प्रचलित थे उनसे आधुनिक युग की चित्र-कला को जाँचना सम्भव नहीं है और न आधुनिक मानदण्डों से अजन्ता की चित्र-कला को जाँचना ही सम्भव है। उसको उस युग के मानदण्डों से ही पसन्द किया जा सकता है।

इससे भिन्न, किन्तु मूलतः सापेक्षतावादी दृष्टिकोण कुत्सित समाज शास्त्रीयता का है जो प्रगतिवाद या मार्क्सवाद की रामनामी ओढ़कर सामने आता है। यह दृष्टिकोण कला की भिन्न-भिन्न शैलियों और प्रवृत्तियों की ऐतिहासिक व्युत्पत्ति की खोज करने के लिए तत्कालीन समाज की वर्ग-व्यवस्था का विश्लेषण करता है, और उसी की सापेक्षता में उनको जाँचता है या अधिक गम्भीरता का उपक्रम करके 'युग की सामान्य चेतना' से उनका सम्बन्ध जोड़ता है। और अधिक विकृत होकर यह दृष्टिकोण कला-कृतियों का वर्ग-आधार खोजने के लिए उनके निर्माता कलाकारों और साहित्यकारों ने जिस वर्ग में जन्म लिया होता है, उसका हवाला देना-मात्र ही ज़रूरी समझता है। इसका तात्पर्य यह होता है कि कलाकार जिस वर्ग में जन्म लेता है; वह उस वर्ग की चेतना को ही व्यक्त करता है। इस प्रकार चूँकि बीते युगों के कलाकार अधिकतर अभिजात वर्गों में ही पैदा हुए या उन्होंने अपनी जीविका के लिए अभिजात वर्गों की नौकरी की या दरबारों का आश्रय लिया, इसलिए उनकी कला भी सामन्ती या पूँजीवादी आदि है। इसलिए इस दृष्टि से कला का मूल्य जाँचने की कोई सामान्य कसौटी नहीं हो सकती, क्योंकि जीवन के प्रति सामन्ती दृष्टिकोण कुछ और था और अब पूँजीवादी दृष्टिकोण कुछ और, और समाजवादी दृष्टिकोण कुछ और है। सच्ची कला का तो अभी जन्म ही हुआ है, किन्तु वह वर्ग-मुक्त समाज में ही पूरी तरह विकास करेगी, जब श्रमजीवी जनता के बीच से लेखक और कलाकार उत्पन्न होंगे। इस समय तो आलोचक का काम प्राचीन और आधुनिक लेखकों के गले में तख्ती लटकाकर उनको वर्ग-खूँटे से बाँध देना भर है। इसके अतिरिक्त जहाँ तक रुचियों और शैलियों का या सौन्दर्य की जाँच का प्रश्न है, कला की रुचियाँ, शैलियाँ और मनुष्य की सौन्दर्य-दृष्टि बदलती ही नहीं रहती, बल्कि अभिजात वर्ग के लिए जो सुन्दर है, श्रमजीवी-वर्ग के लिए वही असुन्दर है, कर्म-जीवन से तटस्थ, केवल काम क्रीड़ा की वस्तु नारी के कोमल अंग, क्षीण कटि और पतली-लम्बी मुलायम उँगलियों का अभिजात आदर्श श्रमिक और किसान नारी के पुष्ट अंग और रूढ़ मज़बूत हाथों के आदर्श से सर्वथा भिन्न है। अतः सौन्दर्य को जाँचने की कोई सामान्य कसौटी नहीं हो सकती।

इस प्रकार रूपवादी और कुत्सित समाज-शास्त्री दोनों ही अपने एकांगी सापेक्षतावादी दृष्टिकोणों के कारण मूल्यांकन के वास्तविक प्रश्न से कतराते हैं। उदाहरण के लिए कुत्सित समाज-शास्त्री यदि कभी दो कलाकारों की तुलना करते हैं, तो अजब भौंडी मनोवृत्ति का परिचय देते हुए मनगढ़न्त आधार पर प्रेमचन्द को गोर्की और तॉलस्तॉय से महान् सिद्ध करने की कोशिश

करते हैं, क्योंकि गोर्की में 'आवारापन'[1] और टॉलस्टॉय में 'अध्यात्म'[2] के प्रति मोह था; या भारतेन्दु को शेक्सपियर के मुकाबले में श्रेष्ठ ठहराते हैं, क्योंकि शेक्सपियर 'सामन्तीवर्ग' का प्रतिनिधि कलाकार था और उसकी कला 'ह्रासोन्मुखी' थी जब कि भारतेन्दु जनता के कलाकार थे,[3] या शरत् को 'मध्यवर्गी' कथाकार और पन्त को स्त्रैण तथा प्रतिक्रियावादी आदि[4] सिद्ध करते हैं। किन्तु साहित्य के मूल्यांकन का प्रश्न इतना सरल नहीं है।

इन दोनों दृष्टिकोणों में आंशिक सत्य है। यह सच है कि कला की शैलियाँ, रुचियाँ, रूप-विधान आदि बदलते रहते हैं। यह भी सच है कि वर्ग-समाज में पैदा हुए कलाकार के संस्कार एक-न-एक सीमा तक अपने वर्ग की मान्यताओं से प्रभावित होते हैं। किन्तु इतना ही सत्य नहीं है। एक कलाकार की सम्पूर्ण चेतना (कलाकार ही क्यों, किसी भी व्यक्ति की सम्पूर्ण चेतना) केवल अपने वर्ग की चेतना तक ही सीमित नहीं रहती। कला, विज्ञान और दर्शन के रूप में ज्ञान की जो पुञ्जीभूत राशि है, एक कलाकार उसके सम्पर्क में भी आता है तथा साथ ही कला-साहित्य की पूर्व-परम्परा, अपने तत्कालीन समाज के विभिन्न वर्गों के द्वन्द्व-जनित पारस्परिक सम्बन्धों से उत्पन्न लोक-चेतना, और अन्य देशों की कला-संस्कृति, जिनसे उस कलाकार का देश असंख्य आर्थिक और सांस्कृतिक सम्बन्धों में पड़कर विनिमय करता है, वह प्रभाव ग्रहण करता है। इसलिए यह सत्य नहीं है कि वह जिस वर्ग में पैदा होता है, उसकी ही विचार-धारा को व्यक्त करता है, और यदि कोई वर्ग या युग ह्रासोन्मुखी है तो उसकी कला भी अनिवार्यतः ह्रासोन्मुखी ही होगी। कला-साहित्य का इतिहास तो यह बताता है कि महान् कलाकार अनिवार्यतः अपने समय की विचार-सीमाओं से आगे के द्रष्टा रहे हैं। स्पष्ट है कि उन्होंने जो 'है' से आगे बढ़कर इतिहास की गति को पहचानते हुए, जो 'होना है' या 'होना चाहिए' की दृष्टि से जीवन-यथार्थ को रूपायित किया है। साथ ही इतिहास इस बात का भी साक्षी है कि समाज की ह्रासोन्मुखता या प्रगतिशीलता के साथ कला की प्रगति या अधोगति का सीधा सम्बन्ध नहीं है। इसके विपरीत अक्सर ऐसा हुआ है कि ऐतिहासिक दृष्टि से प्रगतिशील युगों में कला का ह्रास हुआ है, और ह्रासकालीन समाजों ने महान् कला को जन्म दिया है। इस आधार पर ही मार्क्स ने कहा था पूँजीवादी युग (जो इतिहास की अपेक्षा बर्बरता, दासता या सामन्तवाद के युगों से अधिक उन्नत युग है) श्रेष्ठ कला के निर्माण के लिए अनुकूल युग नहीं है।

एक कलाकार और उसकी चेतना यद्यपि युग-सापेक्ष्य होती है, क्योंकि वह किसी-न-किसी युग-विशेष में ही जन्म लेता है और देश-काल की परिस्थितियों और विचार-धाराओं से अछूता नहीं रह सकता, फिर भी चूँकि वह वास्तविकता के किसी सारपूर्ण अंग या सत्य का चित्रण करता है, इसलिए उसका वस्तुनिष्ठ (ऑब्जेक्टिव) मूल्यांकन भी सम्भव है। जिस प्रकार व्यक्ति में, समष्टि और विशेष में साधारण होता है, उसी तरह सापेक्ष्य में भी निरपेक्ष निहित रहता है। रूपवादियों और कुत्सित समाज-शास्त्रियों को प्रगतिवाद का यह उत्तर है कि यद्यपि कलाकार अपनी कला-कृति के निर्माण के लिए, अपने जीवन-काल की परिस्थितियों से आबद्ध रहने के

१-२. देखिए डॉ० रामविलास-कृत 'प्रेमचन्द', प्रथम संस्करण।
३. देखिए डॉ० रामविलास-कृत 'भारतेन्दु युग', प्रथम संस्करण।
४. देखिए डॉ० रामविलास के फुटकर लेख।

कारण सापेक्ष मानदण्डों का ही प्रयोग करता है, लेकिन बिना निरपेक्ष के सापेक्ष की कल्पना ही असम्भव है, वह सापेक्ष भी किसी निरपेक्ष की अपेक्षा में ही होता है और इन दोनों का सम्बन्ध भी सापेक्ष ही होता है। उदाहरण के लिए हिन्दी के भक्ति-काव्य को लें। भक्ति-भावना मध्य युग की सामान्य लोक-चेतना का माध्यम थी। भक्त कवियों ने इस सापेक्ष माध्यम को ही अपनाया, किन्तु भक्ति-काव्य के माध्यम से जिन कवियों ने जीवन-वास्तव और तत्कालीन समाज-सम्बन्धों के सत्य को जितनी ही गहराई और कलात्मक छवियों के रूप में व्यक्त किया है उस हद तक ही, उस युग-सापेक्ष भावना में जीवन का ऐतिहासिक सत्य प्रतिबिम्बित हुआ है। इसी आधार पर प्राचीन तथा आधुनिक साहित्य के मूल्यांकन की सामान्य वस्तुनिष्ठ कसौटी बन सकती है। प्रगतिवाद सापेक्ष और निरपेक्ष इन दोनों कसौटियों पर परखकर किसी कला-कृति का मूल्य आँकता है। इन दोनों कसौटियों पर न परखने से किस आधार पर निर्णय किया जा सकता है कि तुलसीदास (राम-भक्ति के बावजूद) महान् कलाकार हैं और जैनेन्द्रकुमार (गांधीवादी विचार-धारा के बावजूद) प्रेमचन्द के बाद हिन्दी के सबसे बड़ा कथाकार हैं और उनकी कृतियाँ हिन्दी-कथा-साहित्य और इस प्रकार विश्व-साहित्य की स्थायी निधि हैं! कला यदि वास्तविकता को प्रतिबिम्बित करती है, तो वास्तविकता ही कला की साधारण कसौटी है, जिसकी अपेक्षा हमें उसका मूल्यांकन करना चाहिए। जो कलाकार वास्तविकता के किसी सारपूर्ण यथार्थ को प्रतिबिम्बित नहीं करता उसकी कला निर्जीव होती है और जो आलोचक मूल्यांकन से कतराते हैं उनकी आलोचना सत्यान्वेषी और रचनात्मक न होकर निरर्थक होती है। कला की शैलियाँ, प्रवृत्तियाँ या युग की विचार-धाराएँ सापेक्ष मानदण्ड हैं। केवल उनके आधार पर ही सही-सही मूल्यांकन कर पाना सम्भव नहीं है, क्योंकि इस प्रकार हम अन्ततोगत्वा अपने रुचिगत या विचारगत पूर्वग्रह को ही कला-कृति का मूल्य आँकने के लिए आरोपित करते हैं।

कला क्या है और मूल्यांकन की वास्तविक समस्या क्या है, इन प्रश्नों पर प्रगतिवाद का यही दृष्टिकोण है।

डॉ० हरदेव बाहरी

हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास

हिन्दी को आर्यकुल की एक आधुनिक भाषा माना गया है और इसका सम्बन्ध अपभ्रंश, प्राकृत, संस्कृत और वैदिक तक जोड़ा जाता है। परन्तु यह निश्चय से नहीं कहा जा सकता कि इसमें कितना अंश आर्य है और कितना अनार्य। शुद्ध आर्य भाषा तो वह भी नहीं है जो आदि-ग्रन्थ ऋग्वेद में सुरक्षित है। वेदों की भाषा में अनेक देशी और विदेशी शब्दों का सम्मिश्रण अवश्य हुआ होगा। ऋग्वेद ही के आधार पर कहा जा सकता है कि आर्यों की बोलचाल की भाषा का रूप बदल रहा था। ब्राह्मण-ग्रन्थों और आरण्यकों के अध्ययन से विदित होता है कि लौकिक भाषाओं के भेद-विभेद बढ़ते जा रहे थे। इसके तीन कारण हो सकते हैं—(१) कालगति से भीतर-ही-भीतर भाषा में परिवर्तन, (२) समय-समय पर आने वाले आर्य-कबीलों द्वारा लाये हुए उन-उन प्रदेशों के प्रभाव—जहाँ-जहाँ उनकी पिछली पीढ़ियाँ रहती आ रही थीं, तथा (३) इस देश के आदिवासियों की भाषा का प्रभाव। इन प्रभावों की मात्रा के अन्तर से आर्यों की भाषा में वैषम्य का होना स्वाभाविक ही था। भाषा के कई रूप हो गए। अतएव भाषा के शब्द-भण्डार तथा प्रयोग के स्थिरीकरण का प्रयत्न किया गया और उसका नियमानुरूप संस्कार करके 'संस्कृत' नाम रखा गया। आर्य, द्रविड़, मुण्डा, देशज और विदेशी भाषाओं से आये हुए अनेक नवीन प्रयोगों को, जो उस समय प्रचलित हो गए थे, स्वीकार किया गया; अनेक पुराने प्रयोग अल्पव्यहृत हो गए थे, उन्हें निषिद्ध माना गया। इस प्रकार भाषा का संस्कृत रूप निर्धारित करने वालों में यास्क, पाणिनि, कात्यायन और पतंजलि बहुत प्रसिद्ध आचार्य हुए हैं। इस व्य-वस्थित और स्थिरीकृत भाषा का रूप संस्कृत-साहित्य में वर्तमान है। यही साहित्यिक भाषा शिक्षित और शिष्टवर्ग की बोल-चाल की भाषा भी थी। पर यह निश्चित है कि जन-साधारण की भाषा इससे भिन्न थी।

वैदिक और संस्कृत रूपों में प्राप्त प्राचीन आर्यभाषा के मुख्य-मुख्य लक्षण ये हैं—(१) यह भाषा योगात्मक है, अर्थात् किसी शब्द के अर्थ को बढ़ाने के लिए उसके साथ ध्वनि-तत्त्व जोड़ दिया जाता है। इस ध्वनि-तत्त्व की कोई स्वतन्त्र सार्थकता दिखाई नहीं देती। यह तत्त्व अश्लिष्ट, श्लिष्ट, तथा प्रश्लिष्ट होकर मूल शब्द के साथ जुड़ता है। इसके उदाहरण क्रमशः देवस्य, धार्मिक और वैभव दिये जा सकते हैं। (२) इस तरह के ध्वनि-तत्त्व इस भाषा में तीन प्रकार के हैं—उपसर्ग, प्रत्यय तथा अन्तर्सर्ग, जैसे अभिनव, अतिरिक्त, अनुभव, तथा सुप्त, कर्तव्य, स्पष्टतया, और भाव, लेख, भौम आदि में। (३) कभी-कभी एक से अधिक तत्त्व जोड़े जाते हैं जैसे अत्याचार, आध्यात्मिकता, पांडित्य आदि में। (४) वाक्यों में शब्दों का परस्पर सम्बन्ध बताने के लिए भी संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण और क्रिया के साथ इनका योगात्मक प्रयोग होता है जैसे रामस्य (राम का), तेन (उससे), महती कृपा अथवा लघुना दण्डेन (छोटे डंडे से),

भवति (होता है) इत्यादि। (५) इसमें संज्ञा (एवं विशेषण) तथा सर्वनाम के आठ कारक, तीन वचन और तीन लिंग एवं क्रिया के परस्मै पद, आत्मने पद, उभय पद रूप-भेद के अतिरिक्त दस गण, तीन पुरुष, तीन वचन, और लट् लकारादि भेदों से रूपांतर होते हैं। (६) क्रिया में लिंग-भेद नहीं होता। (७) कृदन्त का वैदिक में विशेषण के रूप में तथा संस्कृत में क्रिया के रूप में प्रयोग होता है। (८) उच्चारण में संयुक्त अक्षरों का बाहुल्य है। (९) टवर्ग अक्षरों का प्रयोग क्रमशः बढ़ता रहा है। भाषा-शास्त्रियों का कहना है कि टवर्ग द्रविड़ों से सीखे गए हैं। (१०) ऋ, लृ और ष का व्यवहार घटता रहा है।

जन-साधारण की भाषाओं के बहुत प्राचीन रूप उपलब्ध नहीं हैं। लेकिन पालि, प्राकृत और अपभ्रंश—इन तीन जन-भाषाओं की जानकारी हमें कुछ ग्रंथों के द्वारा प्राप्त होती है। पालि-काल ईस्वी सन् के प्रारम्भ तक, प्राकृत-काल ५०० ई० तक और अपभ्रंश काल ११०० ई० तक माना जाता है। पालि के उदाहरण बौद्ध धर्म-ग्रन्थों, जैन सूत्रों तथा शिला-लेखों में प्राप्त होते हैं। पालि शब्दों में ऋ, लृ का अभाव, ऐ, औ की जगह ह्रस्व ए, ओ का आविर्भाव, पश्चिमी पालि में ष का लोप और पूर्वी में श, ष, स के स्थान पर श का व्यवहार, विसर्ग का लोप, संयुक्त व्यंजनों का सरलीकरण आदि ध्वनि-सम्बन्धी लक्षण मिलते हैं। व्याकरण में संज्ञा और सर्वनाम के प्रत्ययों का कुछ-कुछ एकीकरण, चतुर्थी विभक्ति का लोप, द्विवचन का ह्रास, क्रिया के लुट्, लङ्, लिट् और लृङ् रूपान्तरों का अभाव, विधि लिङ् तथा आशीर्लिङ् का एकीकरण, गण-विभेद की जटिलता में कमी, आत्मने पद का ह्रास पालि और वैदिक के अन्तर को समझने के लिए आवश्यक लक्षण हैं। पालि-साहित्य से यह स्पष्ट होता है कि पालि के कम-से-कम चार रूप थे। उनमें पश्चिमी प्रदेश (मध्य प्रदेश) और मगध की भाषाओं का प्राधान्य था। साहित्यिक पालि के विकास में तत्कालीन बोलियों के अतिरिक्त वैदिक भाषा का भी हाथ था। जन-भाषा को संस्कृति, ज्ञान-विज्ञान और उच्च साहित्य का वाहन बनाने के लिए वैदिक शब्दावली और प्रयोगों को अपनाना अनिवार्य था।

धीरे-धीरे जब पालि और संस्कृत अपने साहित्यिक स्तर के कारण जन-भाषा से दूर हट गई तो फिर से लोक-साहित्य और लोक-भाषा पर ध्यान गया। प्राकृत में साहित्य लिखा जाने लगा। जिस तरह पालि ने वैदिक से सांस्कृतिक शब्दों को लिया, उसी तरह प्राकृत ने संस्कृत के सांस्कृतिक शब्दों का प्राकृतीकरण किया। साहित्यिक प्राकृत में तद्भव शब्दों और प्रयोगों की भरमार है और ऐसा जान पड़ता है कि प्राकृत का एक मात्र काम यह था कि वह संस्कृत को सरल करे। ध्वनि-विकास में संयुक्त व्यंजनों का पूर्ण दीर्घीकरण और अन्तिम व्यंजनों का, न्, म् को छोड़कर, नितान्त लोप उल्लेखनीय है; जैसे दक्षिण, पुण्य, रक्त, अवस्था, मंत्रस्य की जगह दक्खिण, पुण्ण, रत्त, अवत्था, मंतस्स, और पश्चात्, अवाक् की जगह पच्छा, अवा इत्यादि में। न्, म् के स्थान पर अनुस्वार रह गया जैसे तस्मिन्, गच्छन्, गगनम्, दुग्धम् की जगह तस्सिं, गच्छं, गकनं, दुध्धं में। दो स्वरों के बीच में स्पर्श वर्ण का प्रायः लोप हो गया जैसे काकः, कति, राजा की जगह काओ, कइ, राआ, आदि। कई अवस्थाओं में अघोष का सघोष और सघोष का अघोष हो गया, जैसे गच्छति, शाक के लिए गच्छदि, साग में और दामोदर, कम्बोज के लिए तामोतर, कम्पोच में। टवर्ग का लोप नहीं हुआ। मध्यम म का वँ और प का व हो गया जैसे भँवर (भ्रमर), आणवेदि (आज्ञापयति) में। शब्द के आदि में और ध्वनियाँ तो प्रायः सुरक्षित रहीं, पर

न की जगह ण, य की जगह ज, श ष की जगह स हो गया जैसे णेइ (नयति), जधा (यथा), सावक (श्रावक), संड (षंड) में।

हिन्दी के विकास को समझने के लिए प्राकृत के कुछ अन्य शब्द भी यहाँ दिये जाते हैं —अग्गि (अग्नि), अच्छरा (अप्सरा), अस्सु, अंसु (अश्रु), असवार (अश्ववार, अश्वपाल), आएस (आदेश), अट्ठासि (अष्टाशीति), अट्ठाइस (अष्टाविंशति), अंधयार (अंधकार), खेत (क्षेत्र), अगाह (अगाध), अग्गे (अग्रे), सच्च (सत्य), अज्ज (अद्य), अप्प (आत्मन्), इट्टा (इष्टका), इक्ख (इक्षु), ईसर (ईश्वर), दहि (दधि), उऊखल (उदूखल), उक्खणन (उत्खनन), उग्गाल (उद्गार), उग्घाड (उद्घाट्य), संकल, संखला (शृङ्खला), उज्जल (उज्ज्वल), उट्ठा (उत्था), ऊसर (ऊषर), कीडिया (कीटिका), खाण (खादन), खार (क्षार), खीलिया (कीलिका), घर (गृह), गोवाल (गोपाल), गोहूम (गोधूम), घडी (घटी), जंभा (जृम्भा), जस (यशस्), जिब्भा (जिह्वा), जूअ (द्यूत), जुअ (यूप), इट्ट (त्रुट्), टाण (स्थान), राउत्त (राजपुत्र), राउल (राज-कुल)।

प्राकृत की एक और प्रवृत्ति है महाप्राण ध्वनियों से प्रेम, जो देशज शब्दों में विशेषतः लक्षित होता है। उदाहरण—खड्डा, खंखर, खलमलिय, खसिअ, खिच्च (हि॰ खिचड़ी), खोंत्थ (हि॰ खोंटा), घग्घर (हि॰ घघरा), घरट्ट (अन्न पीसने का पाषाण-यंत्र), छल्ली (हि॰ छाल) छायणी (हि॰ छावनी), छिक्का (हि॰ छिक्का, छींका), छोयर (हि॰ छोरा), भंखर (हि॰ भंखाड़), भगड (हि॰ भगड़ा), भडप्प, भिंगिर (हि॰ झींगुर), भुंपडा (हि॰ झोंपड़ा), भोलिआ (हि॰ झोली), ठट्टार (हि॰ ठठेरा), थरथर इत्यादि।

प्राकृत में द्रविड भाषाओं की टवर्गीय प्रवृत्ति भी बढ़ती रही है।

प्राकृत भाषा के व्याकरण में भी सरलता आ गई। संज्ञा और धातुओं के रूपान्तर में पालि की प्रवृत्ति जारी रही और कारक-चिह्नों तथा प्रत्ययों की संख्या बहुत कम हो गई। प्रथमा और द्वितीया के एवं षष्ठी और चतुर्थी विभक्तियों के रूपों में निकटता आ गई। द्विवचन का लोप हो गया। सभी संज्ञाएँ अजन्त हो गई, हलन्त संज्ञाएँ नहीं रहीं। लट्, लोट्, लृट् के अतिरिक्त अन्य लकारों के रूप लुप्त हो गए। कृदंतों और तद्धितों के रूपों को भी सरल करने का झुकाव स्पष्ट है। कृदन्तों और तद्धितों को क्रिया के रूप में प्रयोग करने की प्रवृत्ति बढ़ गई।

कुछ शब्दों के अर्थ और लिंग भी बदले, पर ऐसे शब्दों की संख्या बहुत अधिक नहीं है।

वररुचि के अनुसार प्राकृत के चार भेद हैं—महाराष्ट्री, पैशाची, मागधी और शौर-सेनी। हेमचन्द्र ने अर्द्धमागधी का नाम भी लिया है और इसका महत्त्व भी अधिक है। सबसे अधिक विकसित और व्यापक प्राकृत शौरसेनी थी। उत्तरकालीन वैदिक भाषा, संस्कृत और साहित्यिक पालि, इन सबका उत्तराधिकार शौरसेनी ही को प्राप्त हुआ। यह उसी मध्यदेश की भाषा थी जहाँ पूर्वकाल में उक्त सभी भाषाओं का साहित्यिक रूप निश्चित हुआ और जहाँ विशाल एवं अक्षुण्ण परम्परागत साहित्य की सृष्टि होती रही। हिन्दी, पंजाबी, राजस्थानी, गुजराती तथा पहाड़ी भाषा का विकास इसी से हुआ। डॉ॰ मनमोहन घोष का विचार है कि महाराष्ट्री भी शौरसेनी ही की एक उत्तरकालीन शाखा है। जिस अर्द्धमागधी से बिहारी भाषाओं का विकास हुआ है उस पर भी शौरसेनी का बराबर प्रभाव रहा है।

प्राकृत भाषाओं और आधुनिक भाषाओं के बीच में अपभ्रंशों की स्थिति है। जब

प्राकृतों ने साहित्यिक रूप धारण कर लिया और वे भी संस्कृत की तरह व्याकरणबद्ध हो गईं तो जनभाषाओं ने सिर उठाना शुरू किया। धीरे-धीरे इनका प्रयोग भी साहित्य में होने लगा। दण्डी (७वीं शती) के बाद तो अपभ्रंश-साहित्य उत्तरोत्तर बढ़ चला। वैसे तो प्रत्येक प्राकृत का अपना अपभ्रंश-रूप रहा होगा, पर सर्वाधिक और सर्वश्रेष्ठ साहित्य शौरसेनी अपभ्रंश में ही मिलता है जिससे हिन्दी का जन्म हुआ। और यह स्वाभाविक ही था, क्योंकि एक तो शौरसेनी प्रदेश की अपनी साहित्यिक परम्परा थी, दूसरे इसका क्षेत्र बहुत विस्तृत था और तीसरे मध्यदेश की भाषा में सदा से उदारता, सर्वग्राह्यता और सांस्कृतिकता आदि गुण रहे हैं।

अपभ्रंश में दीर्घ व्यंजन, मूर्धन्य व्यंजन तथा महाप्राण व्यंजन लाने की प्रवृत्ति विशेष बढ़ गई, जैसे :

जावण आप उणिज्जइ, तावण सिस्स करेइ।

अन्धाँ अन्ध कढाव तिम, वेण्ण वि कूव पडेइ॥ (सरहपा)

(जब तक आप न जानें, तब तक शिष्य न करें, अन्धा अन्धे को निकालने लगे तो दोनों कूप में पड़ें।)

पइसु पविट्ठु हिय तसु, पच्छा भवणि पविट्ठ। (सोमप्रभ)

(पहले प्रवेश करो हृदय में उसके, पीछे भवन में प्रवेश करो।)

व्याकरण भी अधिक सरल होता गया। प्रथमा, द्वितीया और षष्ठी विभक्तियों का लोप हो गया। हिन्दी की अयोगात्मक अवस्था अपभ्रंश ही से विकसित होती है। विभक्ति-प्रत्ययों की जगह परसर्ग लगाने का साहस अपभ्रंश ने किया। हिन्दी के "हुंति", "थें", "ते", "सों", "से", "सेंति", "ने", "कहँ", "केर," "कर", "का", "के", "तन", "महँ", "में", "ऊपर", "पै" आदि अनेक परसर्गों का आदि रूप और प्रयोग अपभ्रंश में मिलता है। क्रियाओं में भी तिङन्त रूपों के स्थान पर कृदन्त रूपों का व्यवहार, जो प्राकृत में शुरू हो गया था, अपभ्रंश में पूर्णता को पहुँच गया। सहायक क्रियाओं तथा वर्तमान और भविष्यत् के रूपों में तो तिङन्त के तद्भव ही प्रचलित रहे, पर अन्यत्र कृदंतों का प्रयोग होने लगा, जैसे "महँ भणिय तुहुँ", "महँ तुहुँ वारिया", "धण दीहु", "लग्गु", "चलि", आदि में।

अपभ्रंश के इस रूप को हिन्दी से मिलाकर देखिए :

'काबि वेस अहरग्ग समप्पइ। जिज्झइ खिज्झइ तप्पइ कंपइ॥'

(कोई वेसवा अधराग्र, समर्पै। जिज्झै खीजै तापै-कंपै।)

पुल्लिंग का अन्तिम आकार भी अपभ्रंश में आ गया था, जैसे सं० श्यामलः, प्रा० सामलो, अप० साँवला, हि० साँवला, एकल्ला, चेल्ला, हीआ, स्त्रीलिंग में अंतिम ई का विकास भी अपभ्रंश में हो गया था, जैसे रंडी, एकली, लड़ी, याती आदि में। नपुंसक लिंग का लगभग लोप ही हो गया। संज्ञार्थक—त्व और—ता के स्थान पर अपभ्रंश में—प्पण और—प्पण रूप प्राप्त होते हैं, जैसे वेअप्पण, बड्डत्तण, बड्डुप्पण, हि० बड़प्पन।

अपभ्रंश की सबसे बड़ी विशेषता उसके शब्द-भण्डार में है। अपभ्रंश-साहित्य में देशी और विदेशी प्रचलित शब्दों का खुलकर प्रयोग हुआ। कुछ रोचक शब्द यहाँ दिये जाते हैं— चेल्लु, चेल्ला (हि० चेला), चंग (हि० चंगा भला), आल-माल (हि० माल-मता), लुक्को (हि० लुका-छिपा), पागल, तलाय, लक्कर, पोट्टल (हि० पोटरी), कोंचा-ताला (हि० कुञ्जी-

ताला), ठेक्कार (हिं० ठकार), टोप्पी, बहुडि (ब्रज० बहुरि) भित्तरि (हिं० भीतर), चाडु, कुंपडा, हट्टि, फालिहि (हिं० फालता) तुलक (हिं० तुरक), सेर, पातसाहि, सालार, डूंगर, लड़का, इत्यादि।

हिन्दी के ध्वनि-विकास, व्याकरण और शब्द-कोश को समझने के लिए अपभ्रंश भाषा का अध्ययन नितान्त आवश्यक है, ऐसे ही जैसे हिन्दी-साहित्य के उद्गम, हिन्दी की काव्य-शैलियों, काव्य-रूपों, वर्ण्य विषयों और सारी साहित्यिक परम्परा को समझने के लिए अपभ्रंश-साहित्य का अध्ययन आवश्यक माना गया है।

डिंगल नागर अपभ्रंश और शौरसेनी अपभ्रंश की ज्येष्ठ पुत्री कही जा सकती है। 'डिंगल' नाम तो सर्वप्रथम १६वीं शताब्दी में प्रचलित हुआ, लेकिन यह सिद्ध है कि 'डिंगल' भाषा राजस्थानी और 'पिंगल' से प्राचीन है। डॉ० एल० पी० टेसीटरी ने डिंगल को अनियमित, असंस्कृत और गँवारू भाषा कहा है जिसका परिष्कृत साहित्यिक रूप 'पिंगल' कहलाता है। इसकी विशेषताएँ हैं—द्वित्त (दीर्घ) वर्णों का प्रयोग और अनुस्वार का प्राचुर्य। 'णकार' की जगह इसमें धीरे-धीरे नकार का व्यवहार बढ़ता गया है और शब्द के आदि में विशेष करके नकार ही रह गया है। जब डिंगल चारणों के हाथ में पड़कर केवल वीर-काव्य के लिए बनकर रह गई और साहित्यिकता के कारण उसमें कृत्रिमता हद से बढ़ गई तो इसमें राजस्थान अथवा ब्रज की प्रचलित भाषा का सम्मिश्रण करके साहित्य में प्रयोग किया जाने लगा। इस प्रकार डिंगल के पश्चात् एक ओर राजस्थानी का साहित्य में प्रचार बढ़ा और दूसरी ओर राजस्थानी-मिश्रित ब्रजभाषा (पिंगल) का अथवा शुद्ध ब्रजभाषा का। ये भाषाएँ मिलकर वीर रस, शृङ्गार, भक्ति, राष्ट्रीयता, नीति, उपदेश आदि सब-कुछ अभिव्यक्त करने में समर्थ थीं। ब्रजभाषा की शक्ति तो इतनी बढ़ी कि यह उत्तर भारत की सर्वमान्य साहित्यिक और राष्ट्रीय भाषा बन गई, यहाँ तक कि मध्य देश के बाहर पंजाब, गुजरात और बंगाल के कवियों ने भी इसे अपनाया। साहित्यिक स्तर पर आकर काल-क्रम से ब्रजभाषा में भी वही कृत्रिमता, वही व्याकरणबद्धता और वही क्लिष्टता आ गई जो किसी भी ऐसी साहित्यिक भाषा में आ जाती है जो जनभाषा से दूर हट जाती है। इस बीच में दिल्ली और मेरठ के आस-पास की बोली में बहुत अच्छा साहित्य विकसित हो रहा था। यह बोली चुस्त, मुहावरेदार और खड़ी-खड़ी थी। ज्यों-ज्यों गद्य का महत्त्व बढ़ता गया त्यों-त्यों खड़ी बोली का भी हिन्दी में प्रचार बढ़ा। गद्य और पद्य की भाषा को एक-सा रखने के लिए इसका प्रयोग पद्य में भी होने लगा।

ऊपर जिन भाषाओं और बोलियों का उल्लेख किया गया है, उनका विकास साहित्य के क्षेत्र में ही दिखाया जा सका है, क्योंकि बोल चाल की भाषाओं का कोई अभिलेख-संचय हमारे पास नहीं है। वैसे तो अपभ्रंश में १८वीं शती तक, डिंगल में १६वीं शती तक तथा राजस्थानी और ब्रजभाषा में आज तक बराबर साहित्य लिखा जाता रहा है, लेकिन अपभ्रंश-काल छठी से ११वीं शती तक, डिंगल-काल १२वीं से १३वीं शताब्दी तक, राजस्थानी और राजस्थानी-मिश्रित ब्रजभाषा (पिंगल) का काल १४वीं-१५वीं शताब्दी तथा १६वीं शती से १८५० तक माना जाता है। इसके बाद से खड़ी बोली का काल चल रहा है। इस बीच में पूर्वी हिन्दी ने कबीर, जायसी आदि सूफी कवियों और तुलसीदास की कृतियों द्वारा साहित्यिकता का दावा तो किया, पर इसकी मान्यता सीमित ही रही। हिन्दी की अन्य बोलियों के अनेकानेक शब्द और प्रयोग तो

हमारे साहित्य में अवश्य उपलब्ध होते हैं, पर इन बोलियों का अपना कोई साहित्यिक महत्त्व नहीं है।

'हिन्दी' शब्द 'हिन्द' से बना है। हिन्द की सभी भाषाओं को 'हिन्दी' कहा जाता रहा है। जिस भाषा को आज 'हिन्दी' नाम से पुकारा जाता है, इसके लिए यह शब्द लगभग १०० वर्ष से प्रयुक्त हो रहा है। इससे पहले 'देशभाषा', 'मरुभाषा', 'ब्रजभाषा', 'भाषा', 'भाखा' 'देहलवी', 'कन्नौजी', 'इलाहाबादी', 'बनारसी' आदि नाम भिन्न-भिन्न बोलियों के तो मिलते हैं, पर इस समूह के लिए कोई एक नाम नहीं मिलता। आज जिसे 'हिन्दी' कहते हैं उसके अन्तर्गत पूर्वी पंजाबी, बागड़िया, खड़ी, राजस्थानी, ब्रजभाषा, बुँदेली, कन्नौजी, अवधी, मध्य पहाड़ी, भोजपुरी, बघेली, छत्तीसगढ़ी, बिहारी आदि बोलियाँ आती हैं। ये सब हिन्दी की उपभाषाएँ हैं। सर जार्ज ग्रियर्सन ने 'हिन्दी' के दो भेद बताये हैं—पश्चिमी हिन्दी और पूर्वी हिन्दी। पश्चिमी हिन्दी की बोलियों का विकास शौरसेनी अपभ्रंश से और पूर्वी हिन्दी की बोलियों का विकास अर्द्धमागधी अपभ्रंश से हुआ है। पर बिहारी से ज्यों-ज्यों हम पश्चिम को चलते हैं त्यों-त्यों शौरसेनी अपभ्रंश और पश्चिमी हिन्दी का प्रभाव बढ़ता गया है। साथ ही दो-दो, तीन-तीन बोलियों का सम्मिश्रण होकर भी एक-एक नई बोली की स्थिति खड़ी हो गई है। मेरी समझ में भोजपुरी मगही, मैथिली और अवधी का सम्मिश्रित रूप ही है और स्वतः कुछ नहीं। छत्तीसगढ़ी भोजपुरी और अवधी के सम्मिश्रण से बनी है जिसमें अनेक रूप उड़िया और दक्षिणी भाषाओं के मिल गए हैं। बघेली अवधी ही का एक रूप है। बुँदेली अवधी और ब्रजभाषा के मेल से विकसित हुई है। कन्नौजी में खड़ी, अवधी और ब्रज के रूप स्पष्टतः मिल जाते हैं। इसी तरह बागड़िया पंजाबी, राजस्थानी और खड़ी के सम्मिश्रण से बन गई है। पूर्वी पंजाबी लहँदा और खड़ी की खिचड़ी के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। राजस्थानी भी ब्रजभाषा, पंजाबी और गुजराती (एवं नागर अपभ्रंश) के मेल से बनी है। खड़ी बोली में पंजाबी और ब्रजभाषा के रूप घुल-मिल गए हैं जिनसे यह अलग बोली हो गई है। इस प्रकार शौरसेनी और अर्द्धमागधी अपभ्रंश से विकसित बोलियों का समुच्चय, क्रमचय और विस्तार (Comlimatim permutation) कुछ इस ढंग से होता रहा है कि दो से बढ़कर सोलह बोलियाँ हो गई हैं। अतः ग्रियर्सन साहब का यह मत ठीक ही है कि हिन्दी के दो रूप हैं—पूर्वी और पश्चिमी। इन दो रूपों में भी इतना घोल-मेल और आदान-प्रदान हुआ है कि यदि आज ग्रियर्सन महोदय जीवित होते तो देखते कि उनकी धारणाओं में परिवर्तन हो गया है। शिक्षा-प्रसार, यातायात, साहित्य, संस्कृति, राष्ट्रीयता आदि कारणों से हिन्दी में पूर्व और पश्चिम का भेद भी मिटता जा रहा है। आधुनिक हिन्दी में कितना कुछ भिन्न-भिन्न बोलियों का है और भिन्न-भिन्न बोलियों में कितना-कुछ केन्द्रीय हिन्दी का है, इस पर अलग से खोज करने की आवश्यकता है। लेकिन इतना सत्य है कि हिन्दी खड़ी बोली प्रदेश के लिए भी इतनी सम्मान्य है जितनी हिन्दी-प्रदेश के अन्य भागों के लिए; और इसी लिए यह खड़ी बोली से इतनी ही भिन्न है जितनी बिहारी, ब्रजभाषा, अवधी, पंजाबी या राजस्थानी से। इसी कारण से यह राष्ट्रभाषा भी है और साहित्य-भाषा भी।

रामसुरेश त्रिपाठी

भाषा का विकास और प्रतीकवाद

प्रतीक एक प्रकार का बुद्धि-व्यापार है। पीठ की रीढ़ सीधी होने से और सिर के खड़े रहने से मनुष्य का मस्तिष्क कुछ उर्वर हुआ। बुद्धि के विकास के साथ मानव ने प्रतीक से काम लेना सीखा। प्रतीक से धीरे-धीरे भाषा का विकास हुआ। भाषा और प्रतीक-शक्ति मनुष्य को पशुवर्ग से अलग करती है। भाषा स्वयं एक प्रकार का प्रतीक है और संस्कृत का सर्वप्रथम लक्षण है। प्रतीकवाद का इतिहास मानवता के विकास का इतिहास है। सभ्यता और संस्कृति की अनेकरूपता और संकुलता के कारण प्रतीकवाद भी बहुरूपी हो गया है और कला तथा विज्ञान के क्षेत्र में इसके अलग-अलग स्वरूप निर्मित हो रहे हैं। परन्तु इसके कुछ मूल तत्त्व सभी रूपों में एक से हैं। प्रतीक या प्रतीकवाद अपने मूल रूप में उन वस्तुओं से सम्बद्ध था जो जाति, गुण, क्रिया या अपने किसी अन्य सादृश्य के द्वारा अन्य वस्तुओं, व्यक्तियों या विचारों को बताती थीं। व्याप्ति-सम्बन्ध भी प्रतीक का एक रूप था और उपमान भी प्रतीक का स्थान लेता रहता था। धीरे-धीरे प्रतीक के अर्थ में विकास हुआ। संकेत और संकेतित वस्तुओं में सादृश्य आदि से ध्यान हटने लगा। उनके स्थान में आरोपित या कल्पित भाव घर करने लगे। संकेत करने वाली वस्तु का अपना मूल्य नहीं के बराबर हो गया। राष्ट्रीय झण्डा एक प्रतीक है। इसके पीछे छिपे हुए अपार जन-समूह के गौरव का इसके प्रकृतरूप—एक-डेढ़ गज कपड़े के टुकड़े—से कोई मिलान नहीं है। गणितशास्त्रीय चिह्नों का अपने-आप में कोई अर्थ नहीं है फिर भी उनके अर्थ-भार को विरले मस्तिष्क ही सँभाल पाते हैं। एक विशेष प्रकार की कविता, जिसमें अभिधेय अर्थ के अतिरिक्त किसी व्यापक अर्थ की व्यंजना रहती है, प्रतीकवाद के भीतर आती है। अवश्य ही कविता के क्षेत्र में संकेत करने वाली वस्तु का मूल्य अभी नगण्य नहीं होने पाया है। यह शब्द-शक्ति की महिमा है। पर कब तक यह शक्ति प्रतीकवाद की वर्तमान धारा को कुछ पीछे खींचती रहेगी, नहीं कहा जा सकता। फ्रायड-स्कूल के मनोवैज्ञानिक शरीर की प्रायः सभी अनजान चेष्टाओं को प्रतीकात्मक मानते हैं। किसी बैठे व्यक्ति का यों ही पैर हिलाना, उनके मत में, किसी दबी-दबाई भावना के चुपचाप चरितार्थीकरण का प्रतीक है। प्रतीक के द्वारा अल्प से बहुत का काम लिया जाता है जिससे एक ओर लाघव और दूसरी ओर शक्ति की बचत होती है। विज्ञान में प्रतीक-पद्धति से सुविधा और कला में चारुता बढ़ी है। वैज्ञानिक प्रतीक में प्रतीक का निर्देशक स्वरूप प्रमुख रहता है जब कि कला, धर्म या राजनैतिक प्रतीक जनता के मनोरागों से रंजित रहते हैं। बुद्धि-प्रसूत होने के कारण प्रतीक का कोई शाश्वत रूप नहीं है। इसके क्रिया-कलाप एक तरह के समझौता-मात्र हैं और अपने व्यापक-से-व्यापक रूप में भी सीमित माने जायँगे। चिह्न (साइन्) और संकेत (सिगनल्) प्रतीक (सिम्बल) के पूर्व रूप हैं। इनमें भेद मौलिक और बौद्धिक अर्थों तथा उनके मूल्यों पर निर्भर करता है। इन सभी पहलुओं का द्योतक अँगरेजी का सिम्बोलिज्म

शब्द है जिसके लिए यहाँ प्रतीकवाद शब्द का व्यवहार किया गया है। प्रतीकवाद की इस संक्षिप्त पीठिका के आधार पर हम भाषा के विकास पर विचार करेंगे।

भाषा के उद्गम के विषय में अनेक वाद हैं। कोई भी पूर्ण नहीं है। भाषा-विज्ञान के विद्यार्थी ने इस प्रश्न पर विचार करना अब एक तरह से छोड़ दिया है। क्योंकि एक तो प्राचीनतम भाषा का रूप अज्ञात है फिर केवल भाषा-विज्ञान के बल पर उद्गम का प्रश्न सम्भवतः हल नहीं हो सकता। परन्तु किसी समस्या को अज्ञात या अगम कहकर छोड़ देना न तो किसी जिज्ञासु के उपयुक्त है और न किसी वैज्ञानिक के। कठिनाइयाँ अवश्य हैं। पर प्रश्न के सजीव बने रहने से ही वे हल हो सकती हैं। जैसा कि कुछ नवीन मनोविज्ञान के पंडित मानते हैं, बहुत सम्भव है भाषा के उद्गम में प्रतीक का हाथ हो।

मनुष्य में सबसे अधिक मौलिक और तीव्र मनोवेग भूख और काम हैं। भाषा की सर्वप्रथम अभिव्यक्ति इन मनोवेगों से सम्बद्ध रही होगी। इनके सम्बन्ध से प्रायः सभी भाषाओं में सहस्रों शब्द बने हैं, बन रहे हैं। प्रतीक के आधार से एक-एक शब्द से शतशः शब्द विभिन्न अर्थ में विकसित होते गए हैं। ऐसा जान पड़ता है, आदि काल में भूख और काम की क्रिया एक-दूसरे पर आरोपित होती रहती थी, दोनों के लिए प्रायः एक ही शब्द का व्यवहार होता था, दोनों ही शरीर के आहार थे। आदम के फल चखने की कथा प्रसिद्ध है। संस्कृत के 'भुज्' और 'भज्' धातुओं का प्रयोग दोनों पक्षों में एक-सा सदा से होता रहा है और इनसे बने हुए 'भोग्य,' 'भोग' आदि शब्द और अन्य भाषाओं में इनके समानार्थक शब्द अनादि काल से दोनों ओर जुटे हुए हैं। भग शब्द ऐश्वर्यवाची बाद में हुआ और प्रतीक-पद्धति पर हुआ। भजन और भक्ति का भी मूल वही है। 'भजन' शब्द ब्रजभाषा के कवियों तक दो अर्थ रखता था। भक्ति, लौकिक प्रेम का उन्नयन (सब्लिमेशन) हो या न हो, भक्ति शब्द 'भज्' का विकास है। भूख ने कृषि को जन्म दिया, और काम ने सृष्टि चलाई। यहाँ भी उनकी एकता बनी रही। सभी भाषाओं में क्षेत्र, बीज, कर्षण, उपजाऊ, ऊसर आदि शब्द काम और कृषि के क्षेत्र में समान रूप से व्यवहृत होते रहे हैं। और प्रतीक के रूप में दोनों का काम करते रहे हैं जैसे 'मेघदूत' के "सद्यः सीरोत्कर्षण-सुरभि क्षेत्रमारुह्यमालं" वाक्य में है। इसके अतिरिक्त असभ्य जातियों की भाषा से लेकर सुसंस्कृत देश की भाषाओं तक में कृषि के औज़ार और साधन हल, फाल आदि लैंगिक प्रतीक का काम अनादि काल से करते रहे हैं। कई जातियों में खेती-सम्बन्धी धार्मिक कृत्य, काम-कृत्य के साथ मानने की प्रथा थी। अपने देश में भी वसन्त-पंचमी के दिन काम-पूजा या मदन-महोत्सव मनाने के साथ-साथ गेहूँ की अधकच्ची बालों को भुनकर नवीन अन्न के उपभोग का उत्सव कभी मनाया जाता था। भोजन और भोज्य पदार्थों के साथ काम-प्रतीक का लगाव सभी देशों में रहा है। धार्मिक अवसरों पर यौन-प्रतीक की मिठाइयाँ और पकवान खाने की प्रथा सब देशों में थी। इस विषय के जानकार विद्वानों ने सैकड़ों उदाहरण सामने रखे हैं जो उपर्युक्त मान्यता का समर्थन करते हैं। रोम में आजीवन कौमार्य-व्रत में दीक्षित कुमारियों को उत्सव के दिनों ऐसे पकवान दिये जाते थे जो पुरुषेन्द्रिय के प्रतीक होते थे। मध्य काल में जर्मनी में कठोरसमों स्त्री के सत्कार में एक विशेष प्रकार की रोटियाँ बनती थीं जो बीच में विभाजित रहती थीं; ऐसी रोटी को स्प्लाट्ट गेब्येक (Splat gebake) कहते थे। अपने देश में गर्भवती औरतों के लिए एक विशेष प्रकार की बरी बनती थी जो उनके वक्षस्थल के आकार की होती थी। मछली खाने से सन्तति-वृद्धि होती

है, यह प्रवाद कई देशों में मछली को पुरुषेन्द्रिय का प्रतीक बन गया है। 'हिब्रू' भाषा में मछली के लिए 'नुन' शब्द है जिसका दूसरा अर्थ अंकुरित करना या जन्म देना भी है। रोमन सभ्यता में मछली 'वीनस' के लिए पवित्र थी और भारतीय सभ्यता में 'काम मकरध्वज' कहा जाता है। मैकडूगल्ड के अनुसार 'हिट्टाइट' भाषा में पुरुष-जननेन्द्रिय के लिए पोसोन (Posson) शब्द है जो फ्रेंच प्वासों (Poisson) से बना है जिसका अर्थ मछली है।

सभ्य जगत् के लिए बहिरंगतः उपेक्षित किन्तु वैज्ञानिक अध्ययन के लिए आवश्यक उपर्युक्त प्रतीक क्या मानव की विचार-परम्परा और उस परम्परा को वहन करने वाली भाषा के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रखते? सृष्टि और सभ्यता का विकास उपर्युक्त मनोवेगों के सम्पर्क, संघर्ष और सन्तुलन के सहारे अग्रसर हुआ है। संस्कृति (कल्चर) का मूल कृषि है जैसा कि उसका अर्थ बतलाता है। कल्ट् > कल्टिमेद् > कल्चर। और उन दोनों के क्रिया-कलाप भाषा के माध्यम से ध्वनित हो-होकर दिशा-दिशा में फैलते रहे हैं। फलतः भाषा का भण्डार बढ़ता रहा है। इस वृद्धि में प्रतीकवाद कैसे सहायक हुआ है हम कुछ उदाहरण द्वारा देखेंगे। वैदिक काल में 'यश' शब्द 'अन्न' का बोधक था। अन्न समृद्धि का प्रतीक हो गया और अन्त में यश शब्द कीर्तिवाचक हो गया। प्राचीन काल में विनिमय के माध्यम पशु (कैटिल) थे। धनी व्यक्ति लखपती के तौर पर 'लक्षगुः' कहे जाते थे। यूरोप में कैटिल से 'कैपिटलिस्ट' शब्द बना, जो एक विशेष वर्ग का प्रतीक है। जर्मन भाषा में पशु के लिए 'डास फिश' (Das Vich) शब्द था। फिश से अँगरेजी फी=फीस शब्द बना। फीस भी पशु रूप में चुकाई जाती थी। अंगरेजी का वर्चू (Virtue) शब्द, जो लैटिन 'विर' (Vir-मनुष्य, वैदिक वीराः ?) से बना है, शुरू में पौरुष या मरदानगी का द्योतक था; क्लासिकल लैटिन में साहस-बोधक था, बाद में सुन्दर गुणों को व्यक्त करने लगा। 'सौम्य' शब्द सोम रस पीने के अधिकारी के लिए प्रयुक्त होता था, शील के साथ इसका लगाव प्रतीक-पद्धति पर हुआ। 'उदार' उस घोड़े या बैल को कहते थे जो गाड़ीवान के बिना चाबुक मारे उसके इशारे पर ही यथावसर दाएँ-बाएँ होता चलता था। बाद में इस शब्द का व्यवहार उस व्यक्ति के लिए होने लगा जो याचक के बिना मुख खोले ही दान दे देता था। 'सुख' का मौलिक अर्थ रथ का आरामदेह स्थान (सीट) था। ख=खनन=छिद्र वाला फलतः इन्द्रिय का प्रतीक बाद में बना और सुख का भाव इन्द्रियों को सुखकर हो गया। अब इसका अर्थ एक-दो डग और आगे बढ़ गया है। मधु शब्द आर्यभाषा-परिवार का अत्यन्त प्राचीन शब्द है। लिथुनियन मेड्यूस, हाई जर्मन का मेडु, जर्मन का मेड्यु इसी के रूप हैं। वैदिक काल में ही यह मधुरता का प्रतीक हो गया था। निम्न लिखित तीन पद्यों में इसके विभिन्न प्रतीकात्मक रूप केवल भाषा की अभिव्यंजना-शक्ति के ही विकास को नहीं व्यक्त करते, कुछ और का भी संकेत करते हैं :

(१) मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः ।
माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः ॥

—ऋग्वेद १ । ९० । ६.

(२) अहिणव महु लोलुवो भवं
तह परिचुंबिअ चूअमञ्जरिं ।
कमल-वसइ मेत्त णिव्वुदो

महुअर विहरिओ सि थं कई ॥

—'अभिज्ञान शाकुन्तल', अंक २.

(१) मधु बरसतीं विधु किरन हैं काँपती सुकुमार
पवन में है पुलक मन्थर चल रहा मधुभार।

—'कामायनी', वासना सर्ग

जैसे कृषिवर्ग के शब्द प्रतीक के आधार पर नये-नये रूप धरते गए वैसे कामवर्ग के शब्द ने भी अनेक चोले बदले। वैदिक वृषभ (साँड) शब्द वृष्य शक्ति का प्रतीक था। कामनाओं का वर्षक देवताओं के देवत्व की रक्षा के लिए बाद में बना। अंगरेजी के सभ्य सूचक 'जेण्टिल' शब्द भी मूलतः जनन से सम्बद्ध है। वैदिक संस्कृत में स्त्रीवाचक जितने शब्द हैं प्रायः सभी यौन-प्रतीक के आधार पर गढ़े गए हैं। पारिवारिक सम्बन्ध-बोधक शब्द जाया, जननी, जनक आदि उसी क्षेत्र से ढाले गए हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थों में अनेक धार्मिक कर्मों की व्याख्या काममय है। और चूँकि ऋषियों के शुद्ध हृदय में किसी प्रकार की छाया-माया नहीं थी, जो-कुछ कहा गया है स्पष्ट शब्दों में कहा गया है। यज्ञ की वेदियाँ तो प्रतीक-ही-प्रतीक थीं। स्रुक् (स्त्रीलिंग) और स्रुव (पुलिंग) भी अपना उद्देश्य नाता जोड़ जोड़कर इंगित करते थे। नीचे लिखे उद्धरण में वैदिक ऋषियों की प्रतीक-पद्धति और उनका रूप-सौन्दर्य-बोध दोनों साथ-साथ आ गए हैं—

योषा वै वेदिः। वृषाग्निः। परिगृह्य वै योषा वृषाणं शेते। मिथुनमेवैतत् प्रजननं क्रियते। तस्मादभितोऽग्निमंसा उन्नयति। सा वै पश्चाद् वरीयसी स्यात्। मध्ये संहारिता। पुनः पुरस्तादुर्वी। एवमिव हि योषां प्रशंसन्ति, पृथुश्रोणिः, विमृष्टान्तरांसा, मध्ये संग्राह्येति।

—'शतपथ ब्राह्मण' १।२।५।१६

उपनिषदों के ऋषि आध्यात्मिक अनुभूतियों को लौकिक आनन्द-प्रतीकों द्वारा समझाया करते थे। 'यथा आत्मया प्रियया परिष्वक्तः न किंचिद् वेद'-जैसी उनकी उपमाएँ होती थीं। कुछ लोगों के मत में नन्द धातु का मूल अर्थ आनन्द के एकायन से ही सम्बद्ध था, विकसित होकर परमानन्द तक पहुँचा।

ऐसा जान पड़ता है, विश्व की प्राचीन चिन्तन-धारा, विशेषकर भारतीय चिन्तन-धारा बिना किसी जोड़ी के सृष्टि-मीमांसा नहीं कर पाती थी। प्रकृति और पुरुष, ईश्वर और माया, शिव और शक्ति, चिति और परमेश्वर सृष्टि के आरम्भ और अन्त हैं। इनके बीच में जगत् और जगत् की प्रत्येक गति में इनकी मिश्रित छाप है। इनके रहस्यों को प्रतीक की सहायता से कुछ सहज रूप में अवगत किया जा सकता था। प्रकृति या माया को नारी के प्रतीकों द्वारा समझाने का यही हेतु था। ऐसे प्रतीकों के कारण जहाँ अनेक दार्शनिक उलझनें पैदा हुईं, वहाँ भाषा को सहस्रों शब्द मिले, विचार व्यक्त करने के कई गतिरोध दूर हुए और सरलता आई। और सबसे बड़ी बात यह हुई कि भाषा भूख-प्यास या ग्राम-व्यवहार से ऊपर उठकर सत्य और शिव की छान-बीन करने लगी। भूख, भाषा के माध्यम से रस की ऊँचाई तक पहुँची और रस 'रसो वै सः' के सम्बन्ध जोड़ने लगा। काम प्रेम के आलोक में घुल गया और प्रेम ईश्वर के आँगन में पहुँचने का दावा करने लगा।

तात्पर्य यह है कि जिन मनोवेगों और अभावों के घात-प्रतिघात से सभ्यता का आरम्भ हुआ उन्हीं मनोवेगों और अभावों की अभिव्यक्ति में भाषा का जन्म हुआ। और जिस तरह

सांस्कृतिक विकास में प्रतीकवाद सहायक रहा है वैसे भाषा के विकास में भी हाथ बटाता रहा है।

भाषा के सामान्य रूप के अतिरिक्त भाषा के विभिन्न अंगों के अध्ययन के द्वारा भी प्रतीकवाद और भाषा का सम्बन्ध देखा जा सकता है।

भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में ध्वनि-प्रतीकवाद (साउंड सिम्बोलिज्म) की पर्याप्त चर्चा है और पुरानी चर्चा है। यास्क, पाणिनि और प्लेटो का युग इस पर विचार कर चुका था और येस्परसन-जैसे आधुनिक पण्डितों ने भी इस विषय पर विचार किया है। ध्वनि और उसके अर्थ की स्वाभाविक एकता या अनुरूपता-सूचक शब्द सभी भाषाओं में हैं। नद-नद शब्द करने के कारण नदी का नाम नदी पड़ा। बिजली की कड़क और बादल की गड़गड़ाहट शब्द अनुकरण पर बने हैं। ध्वनि-प्रतीक के कुछ रूप सार्वभौम या अधिक-से-अधिक व्यापक देखे जाते हैं। जैसे, पत्तों की रगड़जन्य ध्वनि के लिए हिन्दी सर-सर, अंग्रेजी सुसुरेशन (Susurration), लैटिन सुसुरस (Susurrus); हिन्दी मरमर, अंग्रेजी में भी मरमर (Murmur) है, पर जरा सा भिन्न ध्वनि को लिए। कभी-कभी किसी भाषा में किसी विशेष ध्वनि की बहुलता उस भाषा-भाषी का प्रतीक बन जाती है। फ्रांसीसियों को अंग्रेज 'पार्लवू' कहते हैं और अमेरिकन 'डी डोंक' कहते हैं, क्योंकि फ्रेंच में ये दोनों ध्वनियाँ क्रमशः 'आप कहते हैं' और 'इसलिए' के अर्थ में बार-बार व्यवहृत होती हैं। स्वभाव, मनोवेग तथा मानसिक अवस्थाओं के ध्वनि-प्रतीक सभी भाषाओं में बढ़ते जा रहे हैं। ध्वनि-प्रतीक भी प्रगतिशील होते हैं। कालिदास के समय 'नूपुर' ध्वनि करते थे; राजशेखर के समय रणरणाते थे; बिहारी के समय कटि-किंकिनी शब्द करती थी और नूपुर, यदि मौन व्रत न कर रहे हों, बजते थे; और आज रुनमुनझुन करते हैं। हिन्दी में व्यक्त वस्तु की अव्यक्त ध्वनियाँ अपने अस्फुट रूप में उस वस्तु का प्रतीक बनती जा रही हैं विशेषकर नवीन आविष्कृत यांत्रिक वस्तुओं का, जैसे, टिक-टिक, पों-पों आदि। चिड़ियों की चहक के साथ टी-वी टी-टुट्-टुट्-जैसी प्रतीक-ध्वनियाँ भाषा में प्रवेश कर रही हैं। आधुनिक हिन्दी में पन्त जी की कविता में ध्वनि-प्रतीकवाद के रूप देखने योग्य हैं :

> झम झम झम झम मेघ बरसते हैं सावन के,
> छम छम छम गिरती हैं बूँदें तरुओं से छनके।
> चम चम बिजली चमक रही उर में घन के,
> थम थम दिन के तम में सपने जगते मन के।
> आंधी हर हर करती दल मर्मर तरु चर चर,
> दादुर टर टर करते झिल्ली बजती झन झन,
> म्याऊँ म्याऊँ रे मोर पीउ पीउ चातक के गण।

येस्परसन के अनुसार हामी भाषाओं में 'इ' ध्वनि नजदीक का और 'उ' ध्वनि दूर का प्रतीक है। भोजपुरी में भी कुछ ऐसे रूप मिलते हैं जैसे, 'ई' अइले, 'ऊ' अवहीं ना अइहें। अंग्रेजी के 'दिस' और 'दैट' सर्वनामों में भी कुछ ऐसा ही संकेत है। येस्परसन ने ऐसी सम्भावना व्यक्त की थी कि आर्य भाषा परिवार में स्त्रीलिंग प्रत्यय 'इ' लघुता का प्रतीक है और उदाहरण में संस्कृत का 'वृकी' शब्द रखा था। संस्कृत में स्त्रीत्व द्योतक 'आ' और 'ऊ' ध्वनियाँ भी हैं और 'ई' कभी-कभी लघुता के विपरीत अर्थ करती है। जैसे, संस्कृत में 'अरण्य' का अर्थ है जंगल,

किन्तु अरण्यानी का अर्थ है बड़ा जंगल। कुटीर का अर्थ है छोटा कमरा, किन्तु कुटी का अर्थ है उससे बड़ा कमरा। 'सर' का अर्थ है तालाब, किन्तु 'सरसी' का अर्थ है बड़ा तालाब (दक्षिणापथे हि महान्ति सरांसि सरस्य इत्युच्यन्ते-महाभाष्य १।१।१८)। फिर भी जेस्परसन के सुझाव में दूर तक सच्चाई है। क्योंकि बोलियों में कुटिया आदि कुटीर आदि से हल्के पड़ गए, जो इस बात का सूचक है कि संस्कृत के अर्थ उतने स्वाभाविक नहीं थे। ·अपवादों के विशेष कारण होंगे।

सम्भव है ध्वनि की छोटी-से-छोटी इकाई (वर्ण) आरम्भ में स्वतन्त्र प्रतीक हो, जैसा कि लिपि के इतिहास से ध्वनित होता है। अंग्रेजी में जिसे अल्फाबेट (ए, बी आदि) कहते हैं वह ग्रीक का 'अल्फा बेटा' है। किन्तु ग्रीक की भाषा में इन ध्वनियों का कोई अर्थ नहीं होता। ग्रीक वालों ने इन ध्वनियों को सामी लोगों से लिया था जिनके यहाँ लिपि का विकास पहले हो चुका था। सामी में 'अलेफ' का अर्थ 'बैल' था और अलेफ का आरम्भिक अंकन बैल के सिर के आकार का अनुकरण था। इसी तरह बेट बेथ का अर्थ घर था और इसका लिपिरूप घर की आकृति की नकल था। अन्य वर्णों के संकेत भी उनके स्वतन्त्र अर्थ-प्रतीकों पर आश्रित थे। हो सकता है, आर्य भाषाओं की ध्वनि-इकाइयाँ भी कभी स्वतन्त्र अर्थ रखती हों। बाद में पद की सामूहिक ध्वनि में अपने स्वतन्त्र अर्थ के साथ डूब गईं और धीरे-धीरे केवल वर्ण-व्यंजक-मात्र रह गईं। वर्णों का सार्थक-अनर्थक सम्बन्धी प्राचीन विवाद इसकी पुष्टि करता है। उपसर्गों का इतिहास भी कुछ ऐसा ही संकेत करता है। उपसर्ग स्वतन्त्र अर्थ रखते थे किन्तु जब से क्रियाओं के साथ इनका गठबन्धन हुआ, इनकी शक्ति जाती रही। ये केवल द्योतक या प्रतीक के रूप में रह गए। उपसर्गों के स्वतन्त्र अर्थ थे इसका संकेत उत्तर (उत् + तर), उत्तम (उत् + तम)-जैसे शब्दों में मिलता है। इनका प्रतीक-रूप भी धीरे-धीरे ओझल होता जा रहा है। कभी सम् उपसर्ग समता, सन्तुलन का संकेत करता था; 'अभि' सामने या प्रत्यक्ष का प्रतीक था; 'प्र' आरम्भ या आदि कर्म का उपलक्षण था। इनके स्वतन्त्र अर्थ कुछ ऐसे ही रहे होंगे। जो हो, ध्वनि-प्रतीकवाद का भाषा के विकास में, अपने सीमित रूप में, स्थान है। और उपसर्ग तो क्रियाओं के साथ आहार-विहार से सैकड़ों नवीन शब्द रचते ही रहे हैं। और कभी-कभी तद्धित-प्रत्यय का भी काम करते रहे हैं।[1]

भाषा के पद-रूप और उनकी विविधता में प्रतीकवाद की सबसे अधिक गहरी छाप पदों के लिङ्ग स्वरूप पर है। बिना किसी विशेष अड़चन के कहा जा सकता है कि भाषा में लिङ्ग-भेद प्रतीक-पद्धति पर है और स्त्री-पुरुष की छाया लेकर गठित हुआ है। अचेतन वस्तुओं में स्त्रीत्व, पुंस्त्व का आरोप सचेतनीकरण के आधार पर है। जर्मन भाषा में 'डी जोन' (सूर्य) शब्द स्त्रीलिंग है और 'डर मॉड' (चन्द्र) पुलिंग है। लिथूनिया और लटविया के लोक-गीतों में चन्द्रमा सूर्य का पति है। लैटिन में सोल (सूर्य) और लूना (चन्द्र) शब्द क्रमशः पुलिंग और स्त्रीलिंग हैं। संस्कृत में 'चन्द्र' शब्द यद्यपि पुलिंग है पर बोलियों में चिर काल से 'चन्दा माई' रहा है और

१. उपसर्ग का तद्धित प्रत्यय के अर्थ में प्रयोग निरुक्त में मिला है। यास्क ने प्रमगन्द (सूदखोर की सन्तान) शब्द का निर्वचन यों किया है :—प्रमगन्द कुसीदी। माङ्गदो मामागमिष्यतीति च ददाति तदपत्यं प्रमगन्दोऽत्यन्तकुसीदिकुलीनः। निरुक्त ६।६।२। १२०। दुर्गाचार्य ने प्र का प्रयोग तद्धित अर्थ में माना है और प्रस्कण्व शब्द में भी प्र को अपत्यार्थक माना है। 'प्रस्कण्व' के लिए देखिए अष्टाध्यायी ६।१।१५३.

कवियों की आँखें सदा इसे स्त्री-मुख के साथ देखती रही हैं। तात्पर्य यह है कि परस्पर सम्बद्ध अचेतन पदार्थों में लिङ्ग-विन्यास आरम्भ में यौन के आधार पर हुआ। फ्रेंच में 'सड़क' (chemin) स्त्रीलिंग है क्योंकि उसमें पैर डाला जाता है। आधुनिक फ्रेंच में 'मुख' (La bouche) शब्द स्त्रीलिंग है और 'नाक' (Le nez) पुलिंग है। जर्मन भाषा में मनुष्य का मुख पुलिंग, पशु का मुख नपुंसक लिंग, नदी, कुँए या थैले का मुख स्त्रीलिंग है। इनके लिए अलग-अलग शब्द हैं। देखा जान पड़ता है, तनुता, ह्रस्वता, सुन्दरता आदि मानव-इतिहास के शुरू में ही स्त्री के प्रतीक हो गए थे और इनके आधार पर क्रियाशीलता-द्योतक शब्दों को स्त्री या पुरुष की कोटि में डाल दिया गया। जो वस्तुएँ दैनिक जीवन के दूर की थीं, जिनके गुण अनिर्णीत थे, जिनमें स्थिरत्व था, वे सब वस्तुएँ नपुंसकता की प्रतीक मान ली गईं। अवश्य इन प्रतीकों के पीछे जातीय संस्कार और सांस्कृतिक विकास छिपा हुआ है, फिर भी, प्राकृतिक प्रतीक-केन्द्र किसी-न-किसी रूप में सर्वत्र जुटा हुआ है। लिंग में व्यतिक्रम के अनेक कारण हैं, और रहे होंगे। 'दारा' शब्द स्त्री के परुष व्यक्तित्व के प्रतीक होने के कारण (दारयन्तीति दारा :—महाभाष्य ३।३।२०) पुलिंग कोटि में डाल दिया गया होगा। 'कलत्र' शब्द त्रान्त शब्दों की चपेट में आ जाने के कारण, जो प्रायः स्थिर प्रकृति के हैं और कम व्यवहार वाले हैं, नपुंसक वर्ग में घसीटा गया। छात्र और पुत्र-जैसे कुछ शब्द दैनिक व्यवहार के कारण बच गए। हजारों वर्ष की परम्परा और सामाजिक उतार-चढ़ाव का परिज्ञान न हो सकने के कारण अनेक शब्दों का रहस्य समझना आज दुष्कर है। केवल कुछ मोटे सूत्र समझे जा सकते हैं और उन सूत्रों में एक प्रतीकवाद है।

प्रतीकवाद अपने साहित्यिक रूप में भी भाषा के विकास में सहायक हुआ है। वेदों में प्रतीकों की भरमार देखते हुए यह कहना निराधार न होगा कि प्रतीकवाद उतना ही स्वाभाविक है जितना स्वयं भाषा। आज के कुछ आलोचक प्रतीकवाद को असामाजिक और कुण्ठित भावनाओं का अन्तर्नाद समझते हैं। उनके मत में वह कल जन्मा था और आज मिट चला है। किन्तु विश्व का इतिहास इस बात का साक्षी है कि जैसे-जैसे सभ्यता या संस्कृति संकुल होती जाती है, वह अधिकाधिक प्रतीकात्मक होती जाती है और उससे अनिवार्यतः प्रभावित साहित्य भी प्रतीकात्मक होता जा रहा है। मार्क्सवादी साहित्य में प्रतीकवाद का वैसा ही सक्रिय स्थान है, जैसा किसी चिर एकाकिनी के करुण-मधुर गीतों में। साहित्यिक प्रतीकवाद ने सभी देशों में भाषा की शक्ति को बढ़ाया है। उदाहरण के लिए, प्रतीकवाद ने आधुनिक हिन्दी को, भाषा की दृष्टि से, निम्न लिखित विशेषताएँ प्रदान की हैं—

१. विस्मृति के गर्भ में डूबे हुए सहस्रों शब्दों को जीवन-दान और नये-नये शब्दों की सृष्टि।

अभिजन, आवर्जना-जैसे शब्द लगभग एक हजार वर्ष बाद प्रचलित हुए हैं। 'अनिल कुसुम' (पन्त), 'मधुपरियाँ' (महादेवी), 'बिजली के फूल' (प्रसाद)-जैसे शब्द अपनी नवीनता और मनोहरता से वैदिक कवियों की याद दिलाने लगते हैं।

२. इल, इम, इत आदि प्रत्ययों का अधिक कभी-कभी अन्धाधुन्ध व्यवहार। ये प्रत्यय हिन्दी बोलियों के पिछले दो-तीन सौ वर्ष के इतिहास में विरल हो गए थे, कुछ अपभ्रंश-रूप में थे और कुछ के स्थान पर बोलियों के अपने प्रत्यय आ बैठे थे। आधुनिक हिन्दी (खड़ी बोली) में भी संस्कृत के अनुकरण पर वर्तमान साहित्य की देन हैं। विशेष बात यह है कि प्रतीकों के

साथ इन प्रत्ययों का मूल अर्थ गायब होता जा रहा है और वे भी स्वयं प्रतीकात्मक होते जा रहे हैं, जैसे स्वप्निल, स्वर्णिम, निर्मरित, स्वर्गिक आदि प्रतीक शब्दों में।

३. अनेक शब्दों के मूल्यों में विकास।

प्रभात, मधु-जैसे शब्द युग-युग से प्रतीक बने हैं। किन्तु आज जिस नवीन सामाजिक चेतना और सांस्कृतिक सौन्दर्य को व्यक्त करते हैं उनके सामने उनकी प्राचीन व्यक्तिगत प्रसन्नता और मधुरता रमणीय होती हुई भी हल्की है।

४. भाषा की अभिव्यंजना शक्ति का विकास और प्रतीकों का सामाजीकरण।

दोनों का एक साथ उदाहरण—

कलियों की घन जाली में छिपती देखूँ लतिकाएँ
या दुर्दिन के हाथों में लज्जा की करुणा देखूँ
—महादेवी

इसमें लज्जा से नारी का, चिथड़े में लिपटी नारी का, फलतः दुःख-दैन्य से आर्त मानवता का संकेत है। शब्द-शक्ति का इतना व्यापक प्रसार पहले कभी नहीं देखा गया था। लक्षणा और व्यंजना, अपने शास्त्रीय अर्थ में, प्रतीकवाद की छाया छूने में भी असमर्थ हो रही हैं। साथ ही प्रतीकवाद एकांगी स्वाश्रित भावनाओं से प्रकृति को जितनी खूबी से रँग सकता है, उतनी ही सचाई से प्रकृति के सारे वैभव को मानवता के चरणों में लुटा सकता है। प्रतीकवाद अपनी एकांगिता में एक कला है और अपनी व्यापकता में एक दर्शन है।

अन्य भाषाओं में भी साहित्यिक प्रतीकवाद के कारण परिवर्तन और विकास हुए हैं।

अस्तु, भाषा के विकास में जहाँ अन्य अनेक कारण हैं, वहाँ प्रतीकवाद भी सहायक रहा है। भाषा अपने मूल रूप में स्वयं प्रतीक है। प्रतीक से सँवारी गई है। इसके अंग-प्रत्यंग में प्रतीकवाद की छाप है। इसका विकास प्रतीकवादी पद्धति पर होता आया है और होता ही रहेगा।

नरोत्तमदास स्वामी

राजस्थानी भाषा और साहित्य

(क) राजस्थानी भाषा

क्षेत्र—राजस्थानी, राजस्थान और मालवा प्रदेशों की मातृभाषा है। जिस क्षेत्र में राजस्थानी बोली जाती है वह विस्तार में हिन्दी को छोड़कर, किसी भी अन्य भारतीय भाषा के क्षेत्र से बड़ा है। राजस्थानी बोलने वालों की संख्या डेढ़ करोड़ से ऊपर है। इस दृष्टि से उसका स्थान भारतीय भाषाओं में हिन्दी, बंगला, तेलुगु, तामिल और मराठी के बाद छठा तथा विश्व की भाषाओं में कोई पच्चीसवाँ है।

सीमाएँ—राजस्थानी के पूर्वोत्तर में हिन्दी की बांगड़ू बोली, उत्तर में पंजाबी, पश्चिमोत्तर में हिन्दकी, पश्चिम में सिन्धी, दक्षिण-पश्चिम में गुजराती, दक्षिण में मराठी और पूर्व में हिन्दी की बुन्देली तथा ब्रजभाषा नाम की बोलियाँ बोली जाती हैं।

बोलियाँ—राजस्थानी की चार मुख्य बोलियाँ हैं—(१) पश्चिमी राजस्थानी—जिसका क्षेत्र उदयपुर, जोधपुर, जैसलमेर, बीकानेर और शेखावाटी का प्रदेश है; (२) उत्तरी राजस्थानी—जिसमें अलवर प्रदेश की मेवाती और अहीरी बोलियाँ आती हैं; (३) पूर्वी राजस्थानी—जिसमें जयपुर और हाड़ौती की बोलियाँ सम्मिलित हैं, और (४) दक्षिणी राजस्थानी या मालवी—जिसमें नेमाड़ी भी सम्मिलित है। आडावला पहाड़ के निवासी भीलों आदि की तथा भारत के विविध भागों में पाए जाने वाले गूजरों और बंजारों की बोलियाँ भी राजस्थानी के ही रूप हैं। नेपाली (गोरखाली), गढ़वाली आदि पहाड़ी भाषाओं के साथ भी राजस्थानी का गहरा सम्बन्ध है। गुजराती और राजस्थानी भी मूलतः एक ही भाषा थीं जिसे विद्वानों ने Old Western Rajasthani या प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी का नाम दिया है।

प्राचीन नाम—राजस्थानी भाषा का प्राचीन नाम मरु भाषा था। राजस्थान के प्राचीन साहित्यकार अपनी भाषा का इसी नाम से उल्लेख करते थे। आठवीं शताब्दी के 'कुवलयमाला' नामक ग्रन्थ में भारत की प्रमुख १८ देशभाषाओं में मरु-भाषा का उल्लेख किया गया है। अबुल-फज़ल ने आईने-अकबरी में भारतवर्ष की प्रमुख भाषाओं में मारवाड़ी को भी गिनाया है। चारणों द्वारा प्रयुक्त राजस्थानी का साहित्यिक रूप 'डिंगल' नाम से प्रसिद्ध रहा है।

छन्द और अलंकार—राजस्थानी के अपने विशेष छन्द और अलंकार भी हैं। इन विशिष्ट छन्दों का नाम गीत था। ये गीत गाये नहीं जाते थे, पर एक विशिष्ट स्वर से पढ़े जाते थे। इनका आविष्कार सम्भवतः चारणों ने किया। प्रत्येक गीत में कम-से-कम तीन और साधारणतया चार या पाँच पद्य होते हैं। प्रथम पद्य के प्रथम चरण के आरम्भ में कभी-कभी कुछ मात्राएँ या वर्ण अधिक होते हैं, जो मानो गीत के आरम्भ को सूचित करते हैं। ब्रजभाषा में कविता पिंगल द्वारा अनुमोदित छन्दों में ही होती थी। वह 'पिंगल' नाम से प्रसिद्ध हुई। उसकी

समानता पर, गीतों में रचित कविता की भाषा 'डिंगल' कहलाई। चारण लोग प्रायः डिंगल भाषा और गीतों में काव्य-रचना करते थे और भाट (ब्रह्मभट्ट) पिंगल भाषा और पिंगलानुमोदित छन्दों में। पिंगल की सबसे अधिक प्रसिद्ध रचना 'पृथ्वीराज रासो' है। राजस्थानी के कवियों ने पिंगलानुमोदित छन्दों का प्रयोग भी किया है और इसकी परम्परा उन्हें अपभ्रंश से प्राप्त हुई।

राजस्थानी के विशिष्ट अलंकारों में 'जथा' और 'वैणसगाई' उल्लेखनीय हैं। जथाओं के अनेक भेद हैं जिनमें महत्त्वपूर्ण शुद्ध जथा है जिसमें गीत के प्रथम पद्य में वर्णित भाव ही अगले पद्यों में भंग्यन्तर से वर्णित किया जाता है। वैणसगाई एक प्रकार का आद्यनुप्रास है। उसमें पद्यों के प्रत्येक चरण के प्रथम और अन्तिम शब्द एक ही वर्ण से आरम्भ होते हैं जैसे—

माता भूमी मान
पूजै राण प्रतापसी।

(ख) राजस्थानी-साहित्य

राजस्थानी साहित्य का इतिहास क्रमिक विकास के अनुसार तीन कालों में विभक्त किया जा सकता है—

(१) प्रारम्भिक काल (११५०-१५५०)
(२) मध्य काल (१५५०-१८७५)
(३) आधुनिक काल (१८७५ से···)

अपभ्रंश-साहित्य से पृथक् किये गए राजस्थानी-साहित्य का प्रारम्भिक काल सन् ११५० ई० से ही माना जा सकता है। प्राचीन राजस्थानी का अपभ्रंश से अन्तर प्रकट करने वाले मूल भूत लक्षण हैं—(१) विश्लेषणात्मक होने के लिए भाषा में निरन्तर आगे बढ़ने वाली उच्चारण सम्बन्धी प्रवृत्ति का समावेश, (२) विभक्ति-प्रत्यय (दोनों वचनों से भिन्न) के स्थान पर उन पर सर्गों का विकास जो दोनों वचनों में सामान्य हों, (३) संयुक्त काल और संयुक्त क्रियाओं का विकास, (४) द्वित्व व्यंजन का सरलीकरण और पश्चात्स्वर का दीर्घीकरण, और (५) अहीर अपभ्रंश के सामान्य रूपों के स्थान पर संस्कृत के तत्सम रूपों का अधिकाधिक उपयोग।

प्रारम्भिक और मध्यकाल

राजस्थान का प्राचीन साहित्य तीन विभिन्न शैलियों में अभिव्यक्त है—(१) जैन शैली, (२) चारण शैली, (३) लोक शैली।

जैन-साहित्य जैनियों के प्राकृत और अपभ्रंश साहित्यों का क्रमिक विकास है और अधिकांशतः धार्मिक प्रवृत्ति का है। यह चारण-साहित्य की अपेक्षा अधिक वैविध्यपूर्ण और विस्तृत एवं व्यापक है। जैन-साधुओं ने अपनी शिक्षाओं को लोक-कथाओं के माध्यम से लोकप्रिय बनाया, जिसके कारण जैन-साहित्य प्रसिद्धि प्राप्त करता गया। जैन-साहित्य प्रबन्ध, कथा, रस, चौपदी, भाषा, फाग, बारहमासी, चौमासी, संवाद, गीत, धवल, दूहा, गजल, मातृक, स्तवन, सज्झय, और पत्तावली आदि विभिन्न रूपों में पाया जाता है। प्रथम समुदाय सुदीर्घ वर्णनात्मक कविताओं का है। रस मूलरूप में वह कविता होती थी, जिसको रास-नृत्य के साथ गाया जा सकता था और बाद में इसका अर्थ उस लम्बी रचना से लिया जाने लगा जो सामान्यतया वर्णनात्मक हो, और प्राचीन अपभ्रंश-छन्दों और यदा-कदा देशी लय में लिखी गई हो। द्वितीय समुदाय प्रकृति-सौन्दर्य सम्बन्धी कविताओं का है। फाग में वसन्त की बहार, प्रेमी और उनके नृत्य और तत्कालीन समाज

की प्रसन्नता और स्वतन्त्रता की झलक होती थी। गजल एक ऐसी कविता होती थी जिसमें किसी नगर का वर्णन होता था।

भाट-साहित्य अधिकतर वीरतापूर्ण अथवा ऐतिहासिक प्रवृत्ति का है। भाषा सामान्यतया डिंगल है जो बोलचाल की भाषा से भिन्न है। इस शैली का सबसे प्राचीन रूप अपभ्रंश के मुनी कनकमार के करकण्ड-चरित-जैसे ग्रन्थ से मिलता है। भाट-साहित्य 'वीर पुरुषों के स्वतन्त्रता-संग्रामों के चित्र प्रस्तुत करता है।' यह विशाल साहित्य, जो वीरत्व से ओत-प्रोत जीवन और तूफानी मृत्यु के सन्देश के अतिरिक्त कुछ नहीं है—सारे राजस्थान और गुजरात, जहाँ कहीं राजपूत ने अपनी जीती हुई धरती के लिए खून की नदियाँ बहाई—फैलता गया। इस साहित्य को सबसे बड़ी देन उन चारणों की है जो तलवार को भी उतनी ही चतुरता से पकड़ते थे जितनी कि लेखनी को। लोक-साहित्य आम जनता के लिए था जो उस समय की बोलचाल की भाषा को समझती थी।

जैन-साहित्य—वज्रसेन सूरि का 'भारतेश्वर'—बाहुबली—और राजस्थानी का प्राचीनतम ग्रन्थ है। यह ४६ पद्यांशों का एक छोटा-सा काव्य है। यह नागपुरीय तपागच्छ देवसूरि के शिष्य वीरसेन के द्वारा लिपिबद्ध किया गया है। शालिभद्रसूरि राजस्थानी का प्रथम प्रसिद्ध लेखक है। उसने 'भरत' बाहुबली-रस सन् ११८६ में देशी लय में लिखा तथा इसी प्रकार के रस और अन्य वर्णनात्मक काव्य इस काल के मध्य तक लिखे जाते रहे। विनयचन्द्र के समान जिन पद्म (१३३०) का 'शालिभद्र फाग' एक आकर्षक ऋतु-काव्य है। इसी प्रकार के अन्य आनन्ददायी काव्यों में सोर्न सुन्दर (१४२८) का 'नेमिनाथ नवरस फाग' और १५वीं शताब्दी के एक अज्ञात कवि का 'वसन्त विलास' हैं। कुशल लाभ ने दो रोमांटिक-काव्य 'ढोला मारू चौपाई' और माधवानल 'काम कण्डल' चौपाई १६वीं शताब्दी के मध्य में लिखे। उसने 'पिंगल शिरोमणि' नामक छन्द और अलंकार का ग्रन्थ भी लिखा। समय सुन्दरो (१५८०-१६४२) ने लम्बे ग्रन्थ और कई छोटे काव्य और पद लिखे। उसकी सर्वश्रेष्ठ रचना 'सीताराम चौपाई' है। जिन समुद्र सूरि और जिनहर्ष ने जसराज के साथ मिलकर बहुत-से ग्रन्थ लिखे जिनसे राजस्थानी का साहित्य भरा-पूरा हो गया। जसराज के प्रेम और शृंगार के दूहे प्रसिद्ध हैं। उदयराज दूसरा दूहा-लेखक था जिसके दूहे बहुत लोकप्रिय हो गए। तेरापन्थी लेखकों में सबसे अधिक उल्लेखनीय जीतमल था जिसका 'भगवती सूत्र' का राजस्थानी ढाल में रूपान्तर राजस्थानी की सबसे बड़ी रचना है।

जैनियों को बहुत बड़ा श्रेय इस बात का भी मिलना चाहिए कि उन्होंने राजस्थान के जैन तथा अजैन दोनों प्रकार के साहित्य को सुरक्षित रक्खा। कई अजैन-साहित्य के आवश्यक ग्रन्थ जो अन्यत्र दुर्लभ हैं, जैन-भण्डार में मिल जायँगे। उन्होंने प्रान्त के बिखरे हुए साहित्य को सुरक्षित रखने में सहायता भी की है।

लोक-साहित्य—लोक-साहित्य में सबसे अधिक उल्लेखनीय रचना 'ढोला-मारू-रा दूहा' है। यह एक सुन्दर प्रेम-काव्य है। दैन्य, वात्सल्य, व्यंग, करुणा, विलाप, हास्य, प्रेम और पुनर्मिलन का आनन्द—ये सब इसमें उपलब्ध हैं। इसी कारण इसके दूहे इतने लोक-प्रिय हो सके। सदयवाच्छ और सवलिंग की कहानी ने आम जनता में बहुत प्रसार पाया। इसकी रचना में कई लेखकों का हाथ था। दूसरी कहानी, जो उसी प्रकार कई बार दुहराई जा चुकी है, वह 'माधवानल और कामकण्डल' है। १५२६ में लिखी गई कायस्थ गणपति की रचना 'माधवानल

दोग्धक प्रबन्ध' सबसे प्राचीन और सर्वोत्तम है। राजा विक्रमादित्य ने लोक-कल्पना को ध्यान में रखकर सफल प्रयोग किए और कई कहानियाँ लिखीं, जिनमें अदम्य उत्साह, वीरता, उदारता और महानता का चित्रण किया। पंचतन्त्र की कहानियाँ भी किसी-न-किसी रूप में दुहराई गई। राजस्थान की जनता में दूसरे लोकप्रिय काव्य और जो निम्न श्रेणी के लोगों के द्वारा लिखे गए वे हैं, 'हरजी रो ब्याहलो' अथवा 'रुक्मिणी मंगल' और 'नरसी जी रो माहेरो'। वे सामान्यतया पेशेवर वाचकों के द्वारा रात्रि में गाए जाते हैं, जबकि स्त्रियाँ और पुरुष अपने घर का धंधा समाप्त करके वहाँ सुनने के लिए इकट्ठे होते हैं। 'ब्याहलो' रुक्मिणी के कृष्ण के साथ हुए विवाह की कहानी कहता है। यह पद्म नाम के तेली के द्वारा रचा गया था। 'माहेरा' रत्ने खाती की रचना है। इसमें बताया गया है कि किस प्रकार कृष्ण ने नरसी को अपनी बेटी का माहेरा देने में मदद की। यह एक छोटा-सा सुन्दर काव्य है, जिसमें करुणा और व्यंग्य एक साथ प्रवाहित होते हैं।

'ख्याल' दूसरे प्रकार का लोक-काव्य है जो क्रमशः अधोगति को प्राप्त हो गया। 'जिन माता रो गीत' और 'डूँगजी जवारजी रो गीत' दो बहुत लोकप्रिय वीर-काव्य हैं, जो किसी भी अन्य भाषा के श्रेष्ठ काव्यों के सम्मुख रखे जा सकते हैं। भक्त-कवियों में सबसे अधिक प्रसिद्ध मीरांबाई है जो उत्तरी भारत की सर्वश्रेष्ठ कवयित्री है। उसके पद उसकी उल्लेखनीय रचनाएँ हैं। ये पद लोकप्रियता की चरम सीमा तक पहुँच चुके हैं, और ऐसा केवल राजस्थान और गुजरात में ही नहीं हुआ, अपितु बंगाल और मद्रास के दूर प्रदेशों से युक्त समस्त देश में इन पदों की पहुँच हुई। चन्द्रसखी के भजन मीरांबाई के पदों के समान ही लोकप्रिय हैं। भक्तवर अपने किस्म के विशिष्ट भक्त कवि हुए हैं। राजस्थानी समाज के निम्नश्रेणी के लोग और खासतौर पर ग्रामीण लोग सिद्धों के प्रभाव में रहे हैं जिनमें पाबूजी, रामदेवजी, गोगोजी, जाम्होजी और तेजोजी अधिक लोकप्रिय थे।

वीर-चारण साहित्य—नरपति नाल्हा ने (जो अपने-आपको व्यास कहा करता था) सन् १२१५ में अपने 'बीसलदेव रासो' की रचना की। यह तथाकथित ऐतिहासिक काव्य कह्लाद दे के समय की कोलोगिल भाषा में लिखा गया। पद्मनाभ (एक ब्राह्मण) जालोर के चौहान राजकुमार कह्लाददे के वीरतापूर्ण कार्यों का वर्णन करता है। बाढ़ी बहादर का 'वीरामायन', श्रीधर ब्राह्मण का 'रणमल्ल छन्द' और शिवदास चरण का 'अचलदास खीचीरी' वाचनिक भट्ट-शैली के अग्रगण्य ग्रन्थ कहे जा सकते हैं। १५३५ ई० में बीठू सूजोनगर जोत ने 'राव जैतसीराव छन्द' की रचना की, जो राजस्थानी साहित्य-मुकुट का प्रोज्ज्वल रत्न है। काव्य का विषय बीकानेर के राव जैतसी से हुमायूँ के भाई कामरां की पराजय है। इसकी भाषा में प्रवाह है, नहीं, तूफान है, वीरत्व की अदम्य-शक्ति है। शैली का यह प्रवाह, यह सारल्य और उसकी आडम्बरहीनता अतुलनीय हैं। बारह ईसरदास भट्ट कवियों में शिरोमणि माना जाता है। उसकी सर्वश्रेष्ठ रचनाएँ 'हरिरस देवीयान' और 'हालाँ भालाँ रा कुण्डलियाँ' हैं। 'हरिरस' ने स्तोत्र का स्थान ग्रहण कर लिया है—बहुत से लोग इसका पाठ गीता अथवा सहस्रनाम की तरह किया करते हैं। 'देवीयान' में देवी के पराक्रम का वर्णन है। 'कुण्डलियाँ' वीररस के सर्वश्रेष्ठ राजस्थानी-काव्यों में से एक है। इसके अतिरिक्त उसने बहुसंख्या में चारणगीत और अन्य विविध कविताएँ रचीं।

पृथ्वीराज राठौर राजस्थानी कवियों में सर्वाधिक प्रसिद्धि प्राप्त हैं। वे बीकानेर के राजघराने में जन्मे थे और अकबर के दरबार में रहा करते थे। वे एक महान् योद्धा के साथ-साथ

महान् भक्त भी थे। अपनी वीरता के कारण इन्होंने गागरोगढ़ की जागीर जीत ली थी। भक्तमाल के नाभाजी ने उन पर एक कवित्त लिखा है, जिसके बाद उनकी भक्ति के विषय में कहने को कुछ भी बाकी नहीं रहता। पृथ्वीराज की सर्वोत्तम रचना 'किसन रुक्मिणी री वेलि' है जिसमें कृष्ण-रुक्मिणी के विवाह का वर्णन है। काव्य के उत्तरार्द्ध में षड्ऋतु-वर्णन है, जिसमें वसन्त को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। डॉ॰ टेसीटरी ने 'वेलि' को राजस्थानी-साहित्य की समृद्ध खान का देदीप्यमान रत्न कहा है। 'वेलि' अत्यन्त लोकप्रिय रचना सिद्ध हुई और उसने एक धर्म ग्रन्थ का स्तर प्राप्त कर लिया। इस पर लिखी गई दर्जनों संजीवनी टीकाएँ हैं, जिनमें से दो संस्कृत में लिखी गई हैं।

माधोदास ने अपने 'रामरासो' में 'रामयण' की कथा कही। दूलो सैन्यो ने 'रुक्मिणी-हरण' और 'नागदमन' की रचना की। आढ़ा दुरसा चारण कवियों में बहुत प्रसिद्ध हो चुका है जिसने महाराणा प्रताप की प्रशंसा में 'विरद-छिहत्तरी' लिखी। आढ़ा किसना 'महादेव पारवती री वेलि' का रचयिता था। खिड़ियो जोगो का वाचनिक प्रकार का ग्रन्थ 'रतन महेसदासोत री वाचनिक' अपने-आपमें एक सर्वोत्तम नमूना है। करणीदान का 'सूरजप्रकाश' और वीरभान का राजरूपक दो सुदीर्घ वीरकाव्य हैं। कृपाराम ने 'राजिया रा दूहा' लिखा जो राजस्थान-भर में सुविख्यात है। मनसाराम ने 'रघुनाथ-रूपक' नामक अलंकार-छन्द-गीत के ग्रन्थ की रचना की। कवि रामनाथ का 'द्रौपदी-करुणा-बत्तीसी' एक विशिष्ट प्रकार का लघुकाव्य है। आढ़ो ओप ने भक्ति-वैराग्य के गीत-कवित्त लिखे। वह महान् प्रतिभासम्पन्न कवि था। उत्तर मध्यकालीन के दो कलाकार—जोधपुर के आसियो बांकीदास और बूँदी के सूर्यमल्ल मिश्रण - थे, जिनमें बांकीदास महान् विद्वान और उच्चकोटि के इतिहासकार थे, जिन्होंने राजस्थान के राजाओं को अंग्रेजी राज्य के सामने समर्पण करते देख अपनी कविता का विषय बनाया था, और उनको दृढ़ आवाज में ललकारा था। मिश्रण सूर्यमल्ल चारण-जाति में सबसे अधिक विद्वान् थे, उनका भाषा पर पूरा प्रभुत्व था—उनका 'वंश भास्कर' तथ्यों का भण्डार सिद्ध हुआ। दो हजार पृष्ठों से बड़ा यह महाकाव्य बूँदी के चौहानों का इतिहास है जो सुदीर्घ राजस्थानी गद्य-शैली का अनुसरण करते हुए पिंगल में लिखा गया है। इनकी अन्य आवश्यक रचना 'वीर सतसई' है जिसमें वीररस के सात सौ दोहे संग्रहीत हैं। इनके अतिरिक्त राजस्थानी में कई हजार दूहे और गीत इधर-उधर बिखरे पड़े हैं। राजियो, भैरियो, जेठियो, नागजी आदि के दूहे राजस्थानी जनता के हृदय में घर किए हुए हैं।

गद्य-साहित्य—प्राचीनतम राजस्थानी गद्य जैनियों की लेखनी का ही है। संग्रामसिंह की 'बालशिक्षा' (१२८०) और कुलमण्डन की 'मुग्धबोध औक्तिक' (१३९३) रचनाएँ प्राचीन राजस्थानी में की गई संस्कृत व्याकरण की टीकाएँ (पाठ्य-पुस्तकों के रूप में) हैं। ऐसे बहुत से औक्तिक लिखे गए। जैनी साधुओं ने गद्य में धर्मकथाएँ इसलिए लिखीं कि इससे उनके उपदेश लोकप्रिय हो जायँ। 'उनका गद्य सुविकसित, प्रवाहपूर्ण और साभिव्यक्ति था'। ऐसी कथाओं की प्राचीनतम लेखक तरुणप्रभ (१३५५) था। सोमसुन्दर (१३७३—१४४२) और पार्श्वचन्द्र दो अन्य उल्लेखनीय लेखक थे किन्तु सुविकसित, कलात्मक धर्मकथा-गद्य माणिक्यचन्द्र के 'पृथ्वीचन्द्र चरित' में उपलब्ध होता है। कथा अत्यन्त सुन्दर ढंग से कही गई है। इसकी भाषा विश्लेषणात्मक और संगीतमयी है। राजस्थानी गद्य के इतिवृत्तों में इतिहास, वंशावली, जीवन-चरित्र, पौराणिक आख्यान, ऐतिहासिक गाथाएँ और प्रेम कहानियाँ आदि समस्त विषय पूर्णरूप में प्राप्त

होते हैं। इतिवृतों में सबसे उल्लेखनीय रचना 'ख्यात' और 'बात' होती है। 'ख्यात' के ख्यातनामा लेखकों में नयनसी मुहनोत, बांकीदास आसिया और दयालदास सिन्धायच आदि अग्रणी हैं। नयनसी जैन था और जोधपुर महाराज जसवन्तसिंह का मन्त्री था। वह राजस्थान का अबुलफ़ज़ल कहलाता था। उसका 'ख्यात' राजस्थान में तत्कालीन राजपूतों की विभिन्न जातियों के इतिहास का परिचायक है। उसने जोधपुर राज्य का 'राजपत्र' भी लिखा था। नयनसी का 'ख्यात' राजस्थानी गद्य का एक अपूर्व उदाहरण है। बांकीदास का 'ख्यात' गाथाओं का संग्रह है, जो इतिहास के मूल्यवान् सामग्री है। दयालदास ने बीकानेर राज्य के तीन बड़े-बड़े इतिहास लिखे। 'दलपत विलास' बीकानेर महाराज रायसिंह के उत्तराधिकारी पुत्र राजा दलपतसिंह का जीवन-चरित्र है। दुर्भाग्य से यह अपूर्ण ग्रन्थ है। इसके अतिरिक्त सैकड़ों लोकप्रिय 'बातें' लिखी गई हैं जिनमें धार्मिक, वीररसपूर्ण, व्यंगप्रधान, प्रेम-रोमांस-उत्साह-वर्द्धक कहानियाँ सन्निहित हैं। उदाहरणार्थ एक 'लागीड़ा' 'चौबोली' 'राजाभोज और खाफ़रा चोर', 'राजा भोज', 'परिहत माघ' एवं प्राचीन स्त्री-साहित्य यथा—'जालाम ओढनी' 'फोपानन्द' 'सयानी चारणी' 'चन्दा और मलयागरी', 'खुदा शावली' 'पलक दरियाव' 'राजकुमार कुतुबदी'। 'खीची गंगेव नींबावत रो दोपहरों' एक कलात्मक गद्य-कथा है, जिसका लेखक अभी तक अज्ञात है।

(ग) आधुनिक काल

पद्य—आधुनिक साहित्य का आरम्भ देश के पाश्चात्य सम्पर्क और राष्ट्रीय जागरण के साथ-साथ माना जा सकता है। मातृभाषा के साहसी सपूतों ने राजस्थानी के लिए अपनी आवाज बुलन्द की, और यद्यपि उनको बहुत-कम दूसरी सहायता मिली, पर वे दृढ़ता से अपने कार्य को आगे बढ़ाते गए। इन प्रयत्नों से राजस्थानी साहित्य को नया मोड़ लेने में सही प्रेरणा मिली।

बारठ केशरीसिंह सौदा राजस्थानी कविता में राष्ट्रीय-जागरण की भावनाओं के अग्रणी कवि थे। उनके क्रान्तिकारीय राजनीतिक कार्यों के कारण उनकी जागीर छीन ली गई। उनका पुत्र प्रतापसिंह—राजस्थानी नवयुवकों का प्यारा प्रताप जेल में डाल दिया गया और वहीं उसकी मृत्यु हुई। केशरीसिंह की कविता ब्रिटिश साम्राज्यवाद और राजस्थान के निरंकुश सामन्तवाद के खिलाफ एक जबरदस्त बगावत है। उसमें आग है—आग की लपटें हैं। उमरदान की कविता अधिकतर व्यंग-प्रधान है। उसका सर्वश्रेष्ठ काव्य 'छप्पनरो' छन्द संवत् १६५६ वि. (१८६६-१६००) के भयंकर दुर्भिक्ष का स्पष्ट और यथार्थ चित्रण है। मेवाड़ राज्यवंश के महाराज छत्तरसिंह एक महान् योगी थे, उनकी कविता भक्ति-वैराग्य की भावना से ओतप्रोत है। उनकी दो कविताएं 'नारी' और 'मरणो जाणनो' बहुत लोकप्रिय हुईं। स्वामी चतुर्भुजदास निरंजनी का 'भवानी मंगल' एक सुन्दर प्रबन्ध-काव्य है जो 'रुक्मिणी-मंगल' के आधार पर लोकप्रिय शैली में रचा गया है। हिंगलाजदान व्यंग का अद्भुत कवि है। उसका सर्वप्रिय काव्य 'माई महिमा' प्राचीन चारण-शैली में लिखा गया है। उदयराज ने राष्ट्रीय आन्दोलन और उसमें भाग लेने वाले वीरों के प्रशस्तिगीत गाए। उसका 'धूड़सार' इसका उदाहरण है। नाथूराम महियारिया केशरीसिंह का अनुगामी था जिसने 'वीरसतसई' लिखी।

राजस्थानी की नई धारा के प्रथम कवि ठाकुर रामसिंह हैं, जिन्होंने राजस्थानी के पुनरोत्थान का नेतृत्व किया और प्रथम अखिल-भारतीय राजस्थानी-साहित्य सम्मेलन के

सभापतित्व का उत्तरदायित्व निभाया। 'मरु-मयंक', 'मेह और धरा' उनके सर्वोत्तम काव्य हैं जो उनके प्रकृति, मानवता और मातृभूमि सम्बन्धी प्रेम के मूर्त उदाहरण हैं। उनका 'मातृभाषा रो गीत' राजस्थानी का वन्देमातरम् बन गया। राजस्थानी लोकगीतों का अलौकिक संग्रहकर्ता गणपति स्वामी स्वयं उच्चकोटि का कवि है। उसकी कविताएँ उतनी ही आनन्ददायक हैं जितने उच्चकोटि के लोकगीत, और कभी-कभी तो दोनों में अन्तर करना कठिन हो जाता है। उसकी सर्वोत्तम कविता लोरी है। मुरलीधर व्यास और भीमराज के दूहे बड़े लोकप्रिय हैं। कन्हैयालाल सेठिया का नये कवियों में एक उच्चकोटि का व्यक्तित्व है। उसका 'पातल और पीथल' (प्रताप और पृथ्वीराज) पृथ्वीराज के द्वारा महाराणा प्रताप को दिये पत्र, और उनके उत्तर की अनूठी अभिव्यक्ति है। चन्द्रसिंह प्रकृति का कवि है। उसकी 'बादली' और 'लू' क्रमशः वर्षा और गरमी का अपूर्व चित्रण हैं। उसने कालिदास के 'रघुवंश' का राजस्थानी-पद्य में सफल अनुवाद किया है। नानूराम ग्रामीण प्रकृति और ग्राम्यजीवन का कवि है। उसकी 'कलायण' रचना राजस्थान के देहाती-जीवन का यथार्थरूप सामने रख देती है। उसका दूसरा प्रसिद्ध काव्य 'मुरधर रा दस देव' है। जयनरायण व्यास ने भी राजस्थानी में अपनी प्रतिभा का उपयोग किया है।

अन्य प्रसिद्ध कवियों में मोतीसिंह, दुर्गादत्त शास्त्री, मुन्नालाल पुरोहित, मेघराज 'मुकुल', मालदान 'मनुज', रेंवतदान चारण 'कल्पित', धोंकलसिंह, कविवर 'शलभ' और श्रीमन्तकुमार आदि हैं जिन्होंने राजस्थानी को नये स्तर पर ला खड़ा किया है। राजस्थानी को अपनी नई पीढ़ी से बहुत-कुछ पाने की आशा है।

गद्य :—शिवचन्द्र भारतीय राजस्थानी का प्रथम नाटककार है। उसने तीन नाटक लिखे हैं—(१) 'केशरविलास', (२) 'बुढ़ापे की सगाई' और (३) 'फाट का जंजाल'। भगवतीप्रसाद दारुका ने पाँच नाटक लिखे जो एक ही जिल्द में 'मारवाड़ी पाँच नाटक' के रूप में प्रकाशित हुए। इनमें सामाजिक बुराइयों का यथार्थ चित्रण है। 'बोलवना' सूर्यकरण पारीक का राजपूती वीरता को लेकर लिखा गया एक छोटा नाटक है। श्रीनाथ मोदी का 'गोमा जाट' ग्रामीण-समस्याओं पर एकांकी नाटक है। मुरलीधर व्यास ने कई एकांकी लिखे हैं।

आधुनिक राजस्थानी-साहित्य में उपन्यासों का अभाव है। शिवचन्द्र भारतीय का 'कनक-सुन्दर' एक छोटा उपन्यास है जिसका केवल प्रथम भाग ही प्रकाशित हो पाया है। मुरलीधर व्यास ने कई छोटी कहानियाँ लिखी हैं जो अधिकांशतः सामाजिक और गार्हस्थ्य जीवन को लेकर हैं। मुन्नालाल ने भी कुछ कहानियाँ राजस्थानी वीरता को बताते हुए लिखी हैं।

गद्य-लेखकों में गुलाबचन्द नागोरी, अगरचन्द नाहटा, भँवरलाल नाहटा और चन्द्रसिंह के नाम उल्लेखनीय हैं। जयनारायण व्यास और हीरालाल शास्त्री ने भी यथाशक्ति प्रयास किया है। भँवरलाल नाहटा का 'लाभू बाबू' बहुत सुन्दर रेखा-चित्र है। ठाकुर रामसिंह का सभापति-पद से दिया गया भाषण राजस्थानी-गद्य का अच्छा उदाहरण है और रामकरण आसोपा का भगवत्गीता का अनुवाद भी उल्लेखनीय है। इधर श्रीमन्तकुमार ने निबन्ध, रेखाचित्र, कहानी और एकांकी साहित्य में सन्तोषजनक प्रयास किया है। रामदत्त संकृत ने ग्रामीण वातावरण पर अनेक कहानियाँ लिखी हैं।

विविध साहित्य

राजस्थानी का प्रथम व्याकरण रामकरण आसोपा के द्वारा सन् १८९६ में लिखा गया

था। डॉ० टेसीटरी ने प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी के व्याकरण पर अपनी टिप्पणियाँ 'इण्डियन एन्टीक्विरी' में सन् १६१४ से १६१६ तक प्रकाशित करवाई। डॉ० टेसीटरी सबसे बड़ा यूरोपीय राजस्थानी-वेत्ता था। वह इटलीवासी था और उसने इटली में ही राजस्थानी हस्तलिपि की सहायता से राजस्थानी को सीखा था। १६१४ में ब्रिटिश सरकार ने उसे भट्ट-साहित्य के अन्वेषण करने के निमित्त निरीक्षक के रूप में नियुक्त किया था। टेसीटरी को राजस्थानी से बहुत प्रेम था, जिसके लिए उसने अपना जीवन ही समर्पित कर दिया था। उसने 'डिंगल' की तीन कविताएँ सम्पादित कीं और हस्तलिखित चारण-साहित्य के ग्रन्थों की तीन सूचिकाएँ प्रकाशित करवाईं।

मुरारीदान मिसन ने 'अमरकोष' टाइप का 'राजस्थानी शब्दकोष' प्रकाशित कराया। रामकरण आसोपा ने नए आधार पर एक बड़ा 'राजस्थानी शब्दकोष' तैयार किया, पर दुर्भाग्य से वह प्रकाशित न हो सका। दूसरा विशाल कोष 'राजस्थानी-हिन्दी-शब्दकोष' बीकानेर के राजस्थानी-साहित्य पीठ और सादुल राजस्थानी रिसर्च इन्स्टीच्यूट के तत्वावधान में तैयार किया जा रहा है, जिसके प्रधान सम्पादक का उत्तरदायित्व इन पंक्तियों के लेखक के कन्धों पर है। प्रस्तुत लेखक ने एक संक्षिप्त राजस्थानी व्याकरण भी तैयार की है जो छात्रों के लिए विशेष उपयोगी है। इसी लेखक का 'राजस्थानी भाषा और साहित्य' उन तीन भाषणों का सिरीज है जो सन् १६४५ में उदयपुर विद्यापीठ में दिये गए थे। इस सिरीज में राजस्थानी भाषा और साहित्य का संक्षिप्त इतिहास है। डॉ० सुनीतिकुमार ने भी वहीं पर सन् १६४७ में 'राजस्थानी भाषा' पर अपना भाषण दिया था। मोतीलाल मेनारिया ने 'राजस्थान का इतिहास' हिन्दी और राजस्थानी दोनों भाषाओं में लिखा है।

मुरलीधर व्यास, लक्ष्मीलाल जोशी, जगदीशसिंह गहलोत, गणपति स्वामी, अगरचन्द नाहटा और कन्हैयालाल सहल ने राजस्थानी कहावतों का संकलन और सम्पादन किया है। मुरलीधर व्यास और नरोत्तमदास स्वामी द्वारा सम्पादित 'राजस्थानी कहावतां' सबसे बड़ा और अच्छा संकलन है। मुरलीधर व्यास ने राजस्थानी मुहावरों का एक बड़ा संकलन किया है।

राजस्थान के लोकगीतों का प्रथम प्रशंसनीय संग्रह जगदीशसिंह गहलोत ने प्रकाशित करवाया था। इस विषय पर सर्वोत्तम रचना 'राजस्थान के लोकगीत' (दो भागों में) है जो रामसिंह, सूर्यकरण पारीक और नरोत्तमदास स्वामी द्वारा सम्पादित है। यहाँ गणपति स्वामी का नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है जिसने सूर्यकरण पारीक के सफल नेतृत्व में राजस्थानी लोक-गीतों का विशाल संग्रह किया है।

सम्पादकों में ठाकुर भूरसिंह (विविध संग्रह और महाराणा यश प्रकाश) मुन्शि‍फ देवीप्रसाद (राजरसनामृत, महिला मृदुवाणी, कविता-रत्नावली), पुरोहित हरनारायण (सुन्दर-ग्रन्थावली), रामकरण आसोपा (वंश-भास्कर, नयनसी री ख्यात आदि) डॉ० दशरथ शर्मा (दयालदास री ख्यात), अगरचन्द नाहटा (ऐतिहासिक जैन-कार्य, सीताराम चौपाई आदि), दीनानाथ खत्री (दयालदास री ख्यात और दलपत विलास), कन्हैयालाल सहल और ईसरदास (वीर सतसई) और नरोत्तमदास स्वामी (राजस्थान रा दूहा, पृथ्वीचन्द्र चरित्र, बांकीदास री ख्यात, राजस्थानी वीर चरित, अचलदास री वाचनिक आदि) के नाम उल्लेखनीय हैं। सबसे अधिक महत्वपूर्ण ठा० रामसिंह और सूर्यकरण पारीक का प्रयास समझा जाना चाहिए जिन्होंने 'बेलि किसन रुकिमणी', 'ढोला मारू रा दूहा' आदि अनेक अमूल्य ग्रन्थ-रत्नों का सम्पादन किया।

राजस्थानी भाषा और संस्कृति से सम्बन्धित पत्रिकायें 'राजस्थानी', 'राजस्थान भारती' और 'शोध-पत्रिका' (उदयपुर विश्व विद्यापीठ) हैं। कई मासिक और साप्ताहिक पत्र समय-समय पर आरम्भ किये गए थे, पर कोई भी जीवित न रह सका।

भारत के स्वतन्त्र होने के साथ-साथ राजस्थान भी एक संगठित प्रान्त बनाया जा चुका है, अतः यह आशा की जाती है कि राजस्थानी भाषा अपने पूर्व गौरव को पुनः प्राप्त करेगी और राजस्थानी साहित्य महत्ता के उच्चतर स्तर को प्राप्त करेगा।

राहुल सांकृत्यायन

मातृभाषाओं का महत्त्व

देश के पुनर्निर्माण तथा हमारी आर्थिक और सामाजिक समस्याओं को शीघ्रता से हल करने के लिए मातृभाषाओं का कितना महत्त्व है, अभी इसकी तरफ हमारे भाग्यविधाताओं का ध्यान बिलकुल गया ही नहीं है। कितनी ही ओंधी खोपड़ियाँ तो यह स्वीकार करने के लिए भी तैयार नहीं हैं कि मारवाड़ी, मेवाड़ी, हरियानी, बुन्देली, भोजपुरी, मगही, कुमाऊनी, गढ़वाली आदि भाषाएँ भी अपना अस्तित्व रखती हैं। करोड़-करोड़ तक आदमियों द्वारा बोली जाने वाली इन भाषाओं को कितने ही लोग 'बोली' कहकर छुट्टी ले लेना चाहते हैं, और इसे समझने की आवश्यकता नहीं महसूस करते, कि ये जीवित भाषाएँ हैं, और अपने क्षेत्र में जनता के अन्तस्तल तक को छूने के लिए उनका सहारा लेना आवश्यक है। अवधी, ब्रज या मैथिली को तुलसीदास, सूरदास और विद्यापति के कारण भुलाया नहीं जा सकता, किन्तु मालवी, मगही आदि का कोई लिखित साहित्य नहीं मिलता, इसलिए उनके अस्तित्व को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं समझी जाती। यह स्वाभाविक बात है, जो हिन्दी साहित्यिकों को भी अपनी-अपनी मातृभाषाएँ बहुत प्रिय मालूम होती हैं, और बिसराम के एक बिरहे पर एक भोजपुरी संस्कृत या दूसरी साहित्यिक भाषाओं की हजारों उच्च कविताओं को न्योछावर करने के लिए तैयार हो जाता। जो बात भोजपुरियों के बारे में है, वही बात दूसरी अलिखित भाषाओं के साहित्य-प्रेमियों की अपने अनपढ़, प्रतिभाशाली कवियों के बारे में कही जा सकती है। उनका अलिखित रहना खेदजनक जरूर है, शायद यदि उनमें लिखित साहित्य होता, तो उतनी उपेक्षा नहीं दिखलाई जाती; लेकिन तो भी अवधी, ब्रज, मैथिली, मारवाड़ी (डिंगल) के उदाहरण से हम जानते हैं कि उन्हें अपना स्थान लेने में तब भी, कम कठिनाइयों का सामना नहीं करना पड़ता।

उपयोगिता जिसकी साबित की जा सकती है, उसी पक्ष को आज नहीं, तो कल स्वीकार करने के लिए मजबूर होना पड़ेगा। अपनी-अपनी मातृभाषाओं के साथ हमारा कितना ही प्रेममय सम्बन्ध हो, उससे कुछ काम नहीं बनने का। उपयोगिता इन भाषाओं की बहुत अधिक है, यह इसी से मालूम हो सकता है, कि हम इस शताब्दी के अन्त तक भी, अपने यहाँ की निरक्षरता को दूर नहीं कर सकते, यदि प्रारम्भिक-शिक्षा और प्रौढ़-शिक्षा का माध्यम कुमाउंनी, गढ़वाली, कौरवी, हरियानी, मारवाड़ी, मेवाड़ी, मालवी, ब्रज, बुन्देली, अवधी, भोजपुरी, मैथिली, मगही आदि मातृभाषाओं को नहीं बनाता। प्रारम्भिक या प्रौढ़-शिक्षा के लिए मातृभाषा को माध्यम स्वीकार करते ही हमारी निरक्षरता की समस्या छूमन्तर की तरह हवा हो जाती है, और वह सचमुच नागरी की वर्ण-माला सिखाने भर की समस्या रह जाती है। उसके लिए कितना समय लगाना पड़ेगा, यह आप आसानी से समझ सकते हैं। उच्चारणानुरूप होने से नागरी वर्णमाला का सीखना बहुत आसान है, अधिकतर लोग तो हफ्ते-भर में उसे सीख सकते हैं, और एक महीने में

तो सभी वर्ण-परिचय की समाप्त कर सकते हैं। उसके बाद-उनके हाथ में मातृभाषा में छपी पुस्तकें थमा देनी होंगी, और हर प्रौढ़ व्यक्ति अपने-आप अपना अध्यापक बन जायगा। भोजपुरी में छपी 'सोम नयका' 'बिहुला', और 'कुंवर-बिजई' को अक्षर से सद्यःपरिचित नर-नारी बड़े चाव से पढ़ने लगेंगे। हमारी दूसरी भाषाओं में भी इस तरह की अलिखित मनोहर कहानियाँ और पँवाड़े मौजूद हैं, जिनको वर्णमाला के सांचे में ढालकर अपने विशाल हिन्दी-प्रदेश की जनता में फैलाया जा सकता है।

यह भी स्मरण रखने की बात है कि मातृभाषा-द्वारा निरक्षरता का अचिरकाल में ध्वंस कोई भंग-की-तरंग वाली बात नहीं है। रूस ने जो एक दर्जन वर्ष से भी कम समय में अपने यहाँ से निरक्षरता को खतम कर दिया, उसमें प्रधान सहायता मातृभाषाओं के शिक्षा-माध्यम ने स्वीकार करने दी। रूसी, अरमनी, गुरजी आदि एक दर्जन के करीब ही ऐसी भाषाएँ वर्तमान सोवियत-संघ की भूमि में १६१७ ई० की क्रान्ति से पहले थीं, जिनका अपना लिखित-साहित्य था, और जिनमें रूसी भाषा यूरोप की तीन दूसरी प्रधान भाषाओं—जर्मन, फ्रेंच और अंग्रेजी के समकक्ष थी। रूसियों ने बिना कुछ आगा-पीछा किये मातृभाषा के शिक्षा-माध्यम वाले विचार को सिद्धान्त मान लिया, और याकूत, चुक्ची, किरगिजी, तुर्कमानी आदि कई दर्जन अब तक अलिखित चली आई भाषाओं को सुगम लिपि प्रदान करके लिपिबद्ध कर दिया, और उसी द्वारा बच्चों और प्रौढ़ों को शिक्षा देना जारी कर दिया। इसमें कोई कम्युनिज्म गन्ध नहीं है, न मातृभाषाओं के माध्यम स्वीकार करके हम कोई महापाप करेंगे। निरक्षरता की समस्या को तुरन्त खतम करने का यही एक रास्ता है। हमें प्रौढ़ों की शिक्षा और प्राइमरी के चार वर्ष की शिक्षा को मातृभाषाओं में कर देना चाहिए, चौथे वर्ष या चाहें तो तीसरे ही वर्ष से हम हिन्दी को भी द्वितीय भाषा के तौर पर रख सकते हैं, और प्रारम्भिक अनिवार्य शिक्षा के बाद आज की तरह ही पूर्णिया से जैसलमेर, हिमशिखरों से छत्तीसगढ़-नीमाड़ तक हिन्दी को माध्यम बनाए रख सकते हैं। इस प्रकार जहाँ तक माध्यमिक, उच्च-माध्यमिक या उच्च-शिक्षा का सम्बन्ध है, हिन्दी का अपना स्थान अक्षुण्ण रहेगा, और ऐतिहासिक कारणों से हिन्दी ने भारत के जो इतने बड़े भूभाग को एकताबद्ध कर दिया है, उसमें भी कोई बाधा नहीं पड़ेगी, बल्कि नवीन भारत में अपने-अपने प्रदेशों में वहाँ की भाषाओं के सर्वे-सर्वापन को कायम रखते, हिन्दी सारे भारतवर्ष में व्यवहार की जाने वाली भाषा बनकर हमारे सारे देश की एकता को दृढ़ करेगी।

ग्राम-पंचायतों के निर्माण के बाद हमारे सामने मातृभाषाओं की उपेक्षा ने अपना दुष्परिणाम दिखलाना शुरू किया। उत्तर-प्रदेश में यदि ग्राम-पंचायतों को भोजपुरी, अवधी, कुमाऊँनी, गढ़वाली, कौरवी, ब्रज और बुन्देलखण्डी में अपनी लिखा-पढ़ी करने की छुट्टी दे दी जाती, तो सबके लिए कितना सुभीता होता। लेकिन जहाँ पर टेहरी-जैसी रियासत में राजा के शासन के उठने के समय तक लोग हिन्दी में अर्जी दे सकते थे, मुकदमों का फैसला भी उसी में हो सकता था, वहाँ रियासत के विलयन के बाद ही अंग्रेजों के टकसाल के ढले नौकरशाह वहाँ पहुँचे। उन्होंने अंग्रेजी में धड़ाधड़ सूचनाएँ जारी करनी शुरू कीं। अंग्रेजी में फैसले होने लगे, हुकम निकलने लगे। क्या इसे गंगासागर से हिमालय की ओर उलटी गंगा बहाना नहीं कहेंगे? क्या राष्ट्रीय दृष्टि से यह अक्षम्य अपराध नहीं था, जिसके लिए वहाँ के नियुक्त नौकरशाह को चौबीस घण्टे के भीतर कान पकड़कर निकाल देना उचित था? लेकिन यह तो तब हो जब कि

जनता के भावों और सुविधाओं का खयाल रखा जाय और राष्ट्रीय भावना को भी कोई पवित्र पदार्थ माना जाय। राजस्थान में भी यही उलटी गंगा बहाई जा रही है। सचमुच ही इन लोगों को देवों-राजा का डर नहीं है। जब तक दिल्ली में अंग्रेजी और अंग्रेजों के परम-भक्त देवता सिंहासनासीन हैं, तब तक न जनता की सुविधा का खयाल किया जायगा और न नौकरशाहों को उलटी गंगा बहाने से रोका जा सकेगा।

उपयोगिता की दृष्टि से देखने पर निरक्षरता की समस्या तथा पंचायतों, अदालतों और शासन-यन्त्र को जनता की पहुँच के भीतर बनाने के लिए मातृभाषाओं को उनके स्थान पर प्रतिष्ठित करना अत्यावश्यक और उचित है, इस पर और अधिक तर्क-वितर्क करने की आवश्यकता नहीं। इसमें सबसे भयंकर-बाधक वही लोग हैं, जो आकाश-बेल की तरह अपनी जड़ जमीन में नहीं रखते, अर्थात् शहरों के निवासी पुश्तों से क्लर्की या दरबारगिरी करते आए नौकरीपेशा सामन्तों के लम्पू-भम्पू परिवार। दुर्भाग्य से आज हमारे शासन-यन्त्र में इन्हीं आकाश-बेलों का बोलबाला है। उनके दिलों में इन अलिखित किन्तु सबल और मधुर मातृभाषाओं के लिए कोई स्थान ही नहीं। उन्हें वह अपने अनपढ़ नौकर-चाकरों की भाषा समझकर पुश्तों से घृणा करते चले आए हैं। जब उनमें से कितने अँग्रेजी को अपनी मातृभाषा बनाने की धुन में थे, और अपने बच्चों ही नहीं, बच्चियों को भी पूरे साहेब और मेम बनाने की धुन में मस्त थे, उस समय तो हिन्दी के ऊपर भी वह नाक-भौं सिकोड़ते थे। फिर इन देहातियों की भाषा के लिए उनके दिल में कोई कोमल भाव पैदा ही कैसे हो सकता था? यह आकाश-बेलें अब भी दिल से अँग्रेजी को ही हमारे स्वतन्त्र-देश की भाषा बनाए रखना चाहती हैं, तभी तो यूरोपियन स्कूलों और कान्वेंटों में लड़के-लड़कियों की भरमार देखी जाती है। भला अपने सात पीढ़ी तक के लिए इन्तजाम कर जाने पर उतारू यह लोग, अँग्रेजी को सिंहासनाच्युत करके हिन्दी को कैसे शासन-यन्त्र के भीतर घुसने देंगे, और मातृभाषाओं की बात भी सुनने पर क्यों नहीं कान पर उँगली रखेंगे? आकाश-बेलों का शासन राष्ट्र के लिये सचमुच ही भारी अभिशाप है। उनका अपना एक छोटा-सा अंडे का खोल होता है, जिसके भीतर गूलर के कीड़े की तरह वह सारी दुनिया समझते हैं। लेकिन मातृभाषाएँ अधिक दिनों तक उपेक्षित नहीं रह सकतीं। सभी स्थानों में विचारशील पुरुष मातृभाषाओं की आवश्यकताओं को मानने लगे हैं। बिहार-सरकार के शिक्षा-विभाग के एक उच्च अधिकारी (डिप्टी-डाइरेक्टर) तथा गम्भीर विद्वान्, डाक्टर धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी ने हाल ही में इस विषय में 'भोजपुरी' पत्रिका में भोजपुरी भाषा में लिखते हुए कहा है—

'अब दुनियाँ में कौनो देश अइसन एह घरी नइखे, जे ई सिद्धान्त सर्वसम्मति से मान नइखे ले ले कि लगभग एगारह बरिस तक के पढ़ाई—आने प्राइमरी एस्कूल के पढ़ाई—लड़िकन के मातृभाषा में होखे के चाही। पढ़ाई के दूगो पहलू होला—ग्यान के विषय, आउर ग्यान के भाषागत रूप। एह दूनों में अपेक्षाकृत महत्त्वपूर्ण है ज्ञान के विषय। कौनो माध्यम से पढ़ावल जाय, जेतना ज्ञातव्य विषय हमनी के लड़िकन के देवे के चाहतानी, ओतना मिल गइल, त उद्देश्य सफल समझे के चाहीं। ई बात तबे सम्पन्न हो सकेला, जब पढ़ाई मातृभाषा के माध्यम से होखे। एह दृष्टि से भोजपुरी-प्रदेश में भोजपुरिए में आरम्भिक पढ़ाई के भइल बुद्धिसंगत मालूम होता।

"एह विषय के अध्ययन हम स्वयं बेल्जी देस में कइलीं। उहाँ अइसन हिसाब राखल

गइल बा कि सात बरिस के उमिर तक कुल पढ़ाई बेस्त्र भाषा में होला, ओकरा बाद धीरे-धीरे राजाभाषा अँग्रेजी के प्रवेश होखे लागेला, आउर एगारह बरिस के बाद से अँग्रेजी के प्रधानता हो जाला। रूस में सो से कहीं अधिक भाषा माध्यम के रूप में प्रचलित बाटे। हँ, 'द्वितीय भाषा' के रूप में रूसी भाषा पढ़ल जरूरी बा। ओही तरह, हमार-ई व्यक्तिगत राय ह कि, शुरू-शुरू में भोजपुरी-प्रदेश में कुल पढ़ाई भोजपुरी में होले के चाहीं, आउर आगे चल के हिन्दी (खड़ी बोली) अनिवार्य रूप से पढ़ावे के चाहीं।"

डाक्टर धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी ने प्रारम्भिक-शिक्षा के लिए मातृभाषाओं के माध्यम को स्वीकार करने का जो प्रस्ताव किया है, वह किसी भावुकतावश नहीं है, बल्कि इसी खयाल से कि देश की जनता में शत-प्रतिशत साक्षरता लाने का यही एक उपाय है।

यह शुभ चिह्न है जो कि हिन्दी-क्षेत्र में सर्वत्र अपनी मातृभाषा को आगे लाने का प्रश्न उठाया जा रहा है। अपनी-अपनी भाषाओं में पत्र पत्रिकाएँ भी निकलने लगी हैं। आरा से निकलने वाली 'भोजपुरी' मासिक-पत्रिका इसका ही एक उदाहरण है। मैथिली भाषा में भी अपने पत्र निकलते हैं, और उसमें विद्यापति की तरह कविताएं ही नहीं अब तक की जा रही हैं, बल्कि उसके कहानीकार और उपन्यासकार अपनी रचनाओं द्वारा सारे हिन्दी-क्षेत्र में अपने प्रभाव को फैलाते जा रहे हैं। मालवी, मारवाड़ी भाषाओं की ओर से भी कुछ इस दिशा में प्रयत्न होने लगा है, लेकिन अभी तक वह उसकी जन-कथाओं और जन-गीतों के संग्रह के रूप में ही दिखाई पड़ता है। वह भी बहुत बड़ा महत्त्वपूर्ण काम है, इसे कहने की आवश्यकता नहीं। साहित्य के बहुत से अनमोल रत्न अभी लोगों के स्मृति-पटल पर ही अंकित हैं, और यदि उन्हें लिपिबद्ध नहीं किया गया, तो वह काल-कवलित हो जायंगे। विशेषकर पुरानी परम्पराओं को आगे ले चलने वाले वृद्धों-वृद्धाओं की संख्या जिस तेजी से कम हो रही है, उसे देखके हम यह कह सकते हैं; कि यदि दस-पन्द्रह बरस के भीतर भारी परिश्रम से उन्हें लिपिबद्ध कर दिया गया, तो कहना पड़ेगा अब पछताये होत क्या, जब चिड़ियां चुग गईं खेत। जो तरुण अपनी-अपनी भाषाओं की इन अनमोल निधियों के संग्रह में लगे हैं, वह एक बड़ा ही राष्ट्रीय महत्व का काम कर रहे हैं, और उनके इस काम को आने वाली पीढ़ियां बड़े सम्मान के साथ याद करेंगी। अफसोस यही है कि ऐसे धुन के धनियों की संख्या हर भाषा में बहुत कम है। गढ़वाली के कितने लोक-गीत, कथा-संग्रह प्रकाशित हुए ? मगही में कितने लोगों ने इस विषय में काम किया ? बुन्देलखण्डी की संग्रहीत सामग्री भी शायद कीड़ों का भोज बन रही है। ब्रज-साहित्य-मंडल ने इस दिशा में जितना पथ-प्रदर्शन किया है, उतना अवधी में कहां काम हो रहा है ?

सब से आवश्यक काम इस समय जो मातृभाषाओं के बारे में करना है, वह अपनी-अपनी मातृभाषा का एक-एक मासिक-पत्र होना। कितनी ही भाषाओं में इसके लिए प्रयत्न किया गया लेकिन व्यक्तियों या कम साधन सम्पन्न संस्थाओं ने अधिक समय तक घाटा उठाने में अपने को असमर्थ पा, पत्रिकाओं को बन्द कर दिया। लेकिन यदि दो हजार कापियों के ग्राहक निकल आयें, तो ऐसे पत्रों को क्यों बन्द होना चाहिए ? प्रौढ़-शिक्षा के फजूल प्रोपेगंडे पर हर साल लाखों रुपया बरबाद करने वाली सरकारें, क्यों नहीं इसमें हाथ बटातीं ? यदि अधिकारी साहित्यिकों और संस्थाओं द्वारा सम्पादित-प्रकाशित मातृभाषा की पत्रिकाओं की हजार प्रतियाँ स्थानीय सरकारें खरीद करके अपने प्रौढ़-शिक्षा-केन्द्रों और प्रारम्भिक पाठशालाओं को दे दें, तो

यह काम ठोस तौर से आगे बढ़ सकता है। आर्थिक-संकट से निश्चिन्त होने पर फिर पत्र के सुसम्पादन का ही भार रह जाता है, जिसे मातृभाषा-भक्त साहित्यकार आसानी से अपने कन्धे पर उठा सकते हैं। जो उत्साही तथा अधिकारी-तरुण, बड़े प्रयत्न से लोक-कथाओं और लोक-गीतों का संग्रह कर रहे हैं, उनके प्रकाशन का भी यह पत्र अच्छे साधन हो सकते हैं। कितने ही हमारे पत्र केवल अपने जिले भर ही में चलते हैं। मुझे समझ में नहीं आता कि मथुरा या आगरा के ऐसे पत्र को ब्रजभाषा छोड़कर हिन्दी में क्यों निकाला जाता है? आखिर उसके पाठक और ग्राहक सभी ब्रजभाषी होते हैं, और वहाँ की म्युनिसिपैलिटियाँ और डिस्ट्रिक्ट बोर्ड अपने विज्ञापन आसानी से ब्रजभाषा में निकलने वाले पत्र को दे सकते हैं। हिन्दी-क्षेत्र के प्रायः हर एक जिले में एक या अधिक ऐसे पत्र निकलते हैं, जिनका प्रचार केवल जिले के भीतर तक ही सीमित है, और जिन्हें म्युनिसिपैलिटियों और डिस्ट्रिक्ट-बोर्डों के विज्ञापन पालते-पोसते हैं। यदि हमारे जन-निर्वाचित प्रतिनिधि उन पर जोर दें, तो वह अपने को मातृभाषा की पोशाक पहनाने के लिए तैयार हो जायँगे। तो भी उनका स्टेन्डर्ड इतना नीचा होता है, कि उनसे मातृभाषा के साहित्य की समस्या पूरी नहीं हो सकती। उसके लिए तो जिस तरह ब्रजवासियों ने अपना ब्रज-साहित्यमंडल कायम किया है, उसी तरह हरियानी-साहित्यमंडल, मारवाड़ी-साहित्यमंडल, मेवाड़ी-साहित्यमंडल, बुन्देली साहित्यमंडल, कौरवी साहित्यमंडल, गढ़वाली साहित्यमंडल, कुमाउँनी साहित्यमंडल, भोजपुरी साहित्यमंडल, मगही साहित्यमंडल, मैथिली साहित्यमंडल आदि अनेक साहित्यमंडलों को स्थापित करना होगा। यह साहित्यमंडल जहां लोक-गीतों और लोक-कथाओं के संग्रह कराने का प्रबन्ध करेंगे, वहाँ पत्र का संचालन भी इनके जिम्मे होगा। यदि हमारे आकाश-बेल शासकों को भविष्य और इतिहास के प्रति अपनी जिम्मेवारी का ख्याल आता, तो इन मंडलों के लिए कोई आर्थिक-समस्या ही नहीं रह जाती। प्राइमरी तक की शिक्षा मातृभाषा द्वारा हो, और उसके लिए टेक्स्ट-बुक तैयार करके प्रकाशित करने का काम इन मंडलों को दे देने पर वह अपने पैर पर खड़ा हो काम को बहुत आगे बढ़ा सकते हैं।

मातृभाषाओं की हमारे राष्ट्र-निर्माण में जो अनिवार्य आवश्यकता है, उसके बारे में कहते हुए शायद कोई पाठक हमसे यह भी सवाल करेंगे, कि फिर जैसे मातृ-भाषाओं का अपने क्षेत्र के अनुसार अपना साहित्यमण्डल कायम हो, उसी तरह भाषानुसार हिन्दी क्षेत्र में भी क्यों नहीं प्रदेश बना दिए जायँ? यद्यपि मैं इसका पक्षपाती हूँ, लेकिन इस वक्त आंध्र, महाराष्ट्र आदि भाषानुसार बनने वाले प्रदेशों की माँगों से हमारे दिल्ली के देवता इतने परेशान हैं कि वह यह बात सुनकर बौखला उठेंगे—भाषानुसार प्रदेशों की बीमारी यह उत्तर में भी फैलाई जाने लगी। लेकिन जब सारा हिन्दी-क्षेत्र अब भी बिहार, उत्तर-प्रदेश, मध्य-प्रदेश, विंध्यप्रदेश, मध्य-भारत, राजस्थान, पंजाब, पेप्सू, हिमाचल और भूपाल के दस ऐसे प्रदेशों में विभक्त है, जिसमें मातृ-भाषाओं का कोई खयाल नहीं रखा गया है, तो उनकी जगह हमारे हिन्दी-क्षेत्र का भाषानुसार पुनर्विभाजन कर दिया जाय, तो इससे कौन-सी आफत आ जायगी?

संक्षेप में यह कहा जा सकता है, कि आज की प्रमुख समस्याओं और इतिहास की यही माँग है, कि मातृ-भाषाएँ और अधिक दिनों तक उपेक्षित न रखी जा सकतीं, और देश के सर्वतोमुखीन विकास में अनिवार्य आवश्यकता को समझकर उनको उचित स्थान देना ही पड़ेगा।

श्याम परमार

हिन्दी जनपदों में लोक-साहित्य संकलन की परम्परा

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में पाश्चात्य देशों में लोक-साहित्य-सम्बन्धी तीव्र आकर्षण उत्पन्न हुआ। जॉन ऑब्रे (John Aubrey) द्वारा लिखी गई टिप्पणियों से ज्ञात होता है कि इस ओर सत्रहवीं शताब्दी में ही जिज्ञासा के भाव प्रगट हो गए थे।[1] नृतत्वशास्त्र, समाज-विज्ञान, जाति-विज्ञान एवं भाषा-विषयक नवीन ज्ञान की प्रगति ने लोकभाषाओं की मौखिक निधि के प्रति सभी देशों को समान रूप से आकर्षित किया। क्रमशः लोक में प्रचलित मान्यताएँ, रूढ़ियाँ, अन्धविश्वास, परम्पराएँ, धार्मिक आचार-विचार और विभिन्न भाषागत अभिव्यंजनाएँ भी अध्ययन के विषय बनते गए जो समग्र-रूप से लोक-वार्ता-साहित्य के जनक कहे जा सकते हैं।

विशप पेरी (Percy) द्वारा धकेली गई इस विषय की चर्चा (१६वीं शताब्दी) ग्रिम द्वारा किञ्चित वैज्ञानिक रूप प्राप्त करते हुए, कॉक्स और मेक्समूलर के वैदिक-साहित्य के अध्ययन का स्पर्श पाकर, टेलर के कार्यों के रूप में अवतरित हुई, और फ्रेजर के 'दी गोल्डन बो' (१८६० ई०) ग्रन्थ के रूप में अच्छी तरह से निखरी। संक्षेप में लोक-साहित्य का अध्ययन पश्चिम में विभिन्न जातियों के प्रति जिज्ञासा-वृत्ति से प्रेरित होता हुआ धीरे-धीरे एक अलग विज्ञान का स्वरूप धारण करता गया, जिसने न केवल पश्चिमी देशों को ही प्रभावित किया, बल्कि वहाँ से उठी हुई लहर ने सुदूर-पूर्वी देशों को भी शीघ्र ही प्लावित करना आरम्भ कर दिया।

भारतवर्ष में इस कार्य की लहर लोकवार्ता के समग्र अंशों को छूते हुए यकायक नहीं आई। १६वीं शताब्दी के मध्य में जब अँग्रेजों ने शासकीय बागडोर पूरी तरह अपने हाथ में संभाली, तब लोक-मानस के अध्ययन की आवश्यकतावश अँग्रेजी विद्वानों ने अपनी दृष्टि दौड़ाई। शेर-चीतों, जंगली जातियों, विशिष्ट प्रथाओं और भिन्न-भिन्न संस्कृतियों का यह देश उन्हें कम आश्चर्यजनक नहीं लगा। फलस्वरूप भारतीय लोक-साहित्य के अध्ययन और संकलन की नींव पड़ी।

[१] यों तो कर्नल जेम्स टाड के 'एनल्स एण्ड एण्टिक्वीटीज ऑफ राजस्थान' (१८२६ ई०) से भारतवर्ष में लोकवार्ता-संकलन का श्रीगणेश मानना चाहिए; किन्तु उसमें वार्ता-तत्त्व की अपेक्षा इतिहास की सामग्री का बाहुल्य है, अतः सी० ई० गोव्हर (Gover) की पुस्तक 'फोक सांग्ज़ ऑफ सदर्न इण्डिया' (सन् १८६२) को प्राथमिकता दी जाना अनुचित न होगा, जो कि कदाचित् भारत में लोकगीतों का प्रथम संग्रह है।

---

१. ऑब्रे ने सन् १६८७ ई० में 'रिमेन्स आफ जेण्टिलिज्मे एण्ड जुडाइज्म' पर अपने विचार लिखे, जो सन् १८८१ ई० में प्रकाशित हुए।

सुविधा के लिए इस दिशा में भारत-सम्बन्धी प्रकाशित ग्रन्थों को दो भागों में बाँटना उचित होगा—

(अ) हिन्दी जनपद-सम्बन्धी ग्रन्थ और (आ) अहिन्दी जनपद-सम्बन्धी ग्रन्थ।

(अ) हिन्दी जनपद-सम्बन्धी ग्रन्थ संख्या में बहुत ही कम हैं। इसके अन्तर्गत मध्य-भारतीय जातियों के सम्बन्ध में लिखे गए हिस्लप के लेख (१८६६), जिनमें कुछ मूल लोक-कथाएँ भी आई हैं, बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। हिस्लप के पश्चात् डा० वेरियर एल्विन के ग्रन्थ—'फोक टेल्स आफ महाकोशल', 'फोक सांग्ज ऑफ छत्तीसगढ़', 'फोक सांग्ज ऑफ माइकल हिल' (श्यामराव हिवाले सहित), 'सांग्ज आफ दी फारेस्ट' (हिवाले सहित), 'मिथ्स ऑफ मिडिल इण्डिया', 'मुरिया एण्ड देअर घोटुल', 'दी बैगा', 'दी अगरिया,' आदि; शरतचन्द्र राय लिखित 'मुण्डा एण्ड देअर कन्ट्री' (१९१२), क्रिश्चियन जोन द्वारा संग्रहीत 'बिहार प्रोवर्ब' तथा आर्चरलिखित 'ब्लू ग्रव' कुछ उल्लेखनीय ग्रन्थ हैं।

(आ) अहिन्दी जनपद-सम्बन्धी ग्रन्थों में 'ओल्ड डेक्कन डेज' (१८६८),[१] 'डिस्क्रिप्टिव एथनालाजी आफ बैंगाल' (१८७१),[२] 'फोकसांग्ज ऑफ बैंगाल' (१८८३)[३] 'एन्श्यंट बैलेड्स एण्ड लीजेन्डस् ऑफ हिन्दुस्थान'[४] (१८८२), 'लीजेन्डस ऑफ दी पंजाब' (१८८४),[५] 'वाइड अवेक स्टोरीज' (१८८५),[६] 'फोक लोअर इन सदर्न इण्डिया'[७], 'इण्डियन फोकलोअर',[८] 'शिमला विलेज टेल्स'[९], 'रोमाण्टिक टेल्स फ्राम पंजाब',[१०] 'बंगाली हाउस ओल्ड टेल्स',[११] 'ओरियण्टल पर्ल्स',[१२] 'इण्डियन फेबिल्स',[१३] 'फोकलोअर आफ दी तेलगूज',[१४] 'इस्ट बैंगाल बैलेडस्',[१५] 'फोकलोअर ऑफ बाम्बे',[१६] 'फोकलोअर नोट्स, ट्राइब्ज एण्ड कास्टस् ऑफ बाम्बे',[१७] आदि कुछ प्राप्य ग्रन्थ हैं। अनुमान है कि कुछ ग्रन्थ और होने चाहिएँ जो इन दिनों भारतीय पुस्तकालयों में उपलब्ध नहीं।

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त 'जरनल ऑफ रायल एशियाटिक सोसायटी,' 'इन्डियन एँटिक्वेरी,' 'नार्थ इन्डिया नोट्स एण्ड क्वेरीज', 'बिहार उड़ीसा रिसर्च सोसायटी जरनल,' आदि में छपित डैमेन्ट, क्रुक, जे० एच० नालीज, बोम्पस, बोडिंग, ब्लूमफिल्ड, शरतचन्द्राय, पैंजर, ग्रियर्सन, चोगेन्धनाथ, हौपमैन, ब्राउन, आदि के फुटकर लेखों में बहुत कुछ काम की सामग्री प्रकाशित हुई है। प्रान्तीय भाषाओं का अध्ययन भी इस दिशा में सहयोगी सिद्ध हुआ है। 'लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इन्डिया' (१९०७-८) की जिल्दों में ग्रियर्सन ने कुछ मूलगीतों को अनुवाद सहित प्रस्तुत किया है।[१८]

उपर्युक्त ग्रन्थों की सूची से यह प्रकट होता है कि हिन्दी जनपदों की अपेक्षा अहिन्दी जनपदों में, भारतीयों और अभारतीयों द्वारा अधिक कार्य हुआ है। हिन्दी जनपद तो हिस्लप, एल्विन और आर्चर के ही बाँटे आए। दूसरे लोक-कथाओं की ओर अन्य विषयों से अधिक

---

१. मिस फ्रेयर, २. डाल्टन, ३. लालबिहारी दे, ४. लोकवृत्त, ५. आर० सी० टेम्पल, ६. श्रीमती स्टील, ७. नटेशशास्त्री, ८. आर० सी० मुकर्जी, ९. श्रीमती डेकार्ट, १०. सी० स्वीन्टर्न, ११. एस० कुबाक, १२. शोभनादेवी, १३. रामस्वामी राजू, १४. जी० आर० सुब्रह्मिय पंतालु, १५. दिनेशचन्द्र-चन्द्रकुमार (कलकत्ता विश्वविद्यालय), १६-१७ आर० ई० एन्थोवेन। १८. देखिए 'लोकवार्ता' (जनवरी, १९४६) में प्रकाशित 'भारतीय लोक कथाएँ और उनके अंग्रेजी संग्रह' शीर्षक लेख।

लगा दिया गया, जिससे लोक-साहित्य की अन्य दिशाएँ छूई भर जा सकी हैं। आंग्लभाषियों द्वारा लोक-साहित्य-सम्बन्धी कार्य अप्रत्यक्ष रूप से भले ही वैज्ञानिक रहा हो, पर प्रत्यक्ष यही है कि उसमें लोक-जीवन के नैकट्य की जिज्ञासा थी। ईसाई मिशनरियों के पैशाच और धर्म-प्रचारार्थ प्रान्तीय भाषाओं के अध्ययन की आवश्यकता ने प्रान्तीय भाषाओं के मौलिक-साहित्य के संकलन को भी प्रेरणा दी, इसमें शक नहीं।

२०वीं शताब्दी के आरम्भ में जातीय-चेतना और भाषागत जागरूकता आरम्भ हो गई थी। उसने आंग्लभाषियों के प्रयत्नों से प्रेरणा लेकर लोक-साहित्य के प्रति रुचि-निर्माण में योग देना प्रारम्भ किया। इस प्रेरणा और रुचि के पृष्ठ में राष्ट्रीय-आन्दोलन और इने-गिने साहित्यिकों में निहित जनोन्मुखी स्नेह का बल भी था। कुछ अंशों में लोकमानस की सरल और भोली 'त्रिया' अभिव्यक्तियों[1] का आकर्षण भी काम कर रहा था।

[२] हिन्दी में छपित लोक-साहित्य पर प्रकाश डालने के पूर्व, अन्य प्रान्तीय भाषाओं में किये गए कार्यों पर एक नजर डालना आवश्यक है, जिनमें गुजराती, बंगला, मराठी, पंजाबी विशेष रूप से अग्रणीय रही हैं।

गुजराती में झवेरचन्द मेघाणी द्वारा सम्पादित 'रढ़ियाली रात' (३ भाग), 'चुन्दड़ी' (२ भाग) तथा 'लोक-साहित्य', रणजीतराय मेहता लिखित 'लोकगीत' और नर्मदाशंकर लालशंकर द्वारा संग्रहीत 'नागर स्त्रियों गावता गीत' उल्लेखनीय हैं। बंगला में 'ठाकुरमार झुली' (योगीन्द्रनाथ सरकार), 'बंगलार व्रत', १६१६ (अवनीन्द्रनाथ ठाकुर), 'हारामणी' (महम्मद मनसूरुद्दीन) और 'बंगलार बाउल' (जसीमुद्दीन), पंजाबी में 'पंजाब दे गीत' (पं० रामशरण-दास), 'गिद्दा,' १६३६ (देवेन्द्रसत्यार्थी); मराठी में वामन कृष्ण चोरघड़े तथा काका कालेलकर लिखित 'साहित्याचे मूलधन', का० न० केलकर द्वारा संग्रहीत 'ऐतिहासिक पोवाडे', 'स्त्री गीतें' तथा अनुसूयाबाई भागवत के कुछ लेख उल्लेखनीय प्रकाशन हैं। तामील, तेलगू, मलयालम भी इस दिशा में पीछे नहीं है।

लोक-साहित्य-संकलन के सम्बन्ध में, जो परिस्थितियाँ अन्य प्रान्तीय भाषाओं के समक्ष थीं, वे ही हिन्दी के सामने रहीं। २०वीं शताब्दी के दूसरे दशक में 'सरस्वती' मासिक से प्रोत्साहन पाकर श्री मन्नन द्विवेदी के प्रयत्नों से 'सरवरिया' नामक गोरखपुर जिले के गीतों का एक छोटा-सा संग्रह, सन् १६१३ में प्रकाशित हुआ।

हिन्दी में लोक-साहित्य-संकलन के उद्योग का यहीं से प्रथमोत्थान आरम्भ होता है।[2] उन्हीं दिनों 'सरस्वती' में संतराम बी० ए० के 'पंजाबी लोकगीत' प्रकाशित हुए थे, (जिनका संवर्द्धित संस्करण १६२५ में 'पंजाबी-गीत' के नाम से प्रकाशित हुआ) जिनसे पं० रामनरेश

१. देखिए 'आलोचना,' अंक ४; 'हिन्दी साहित्य के विकास-क्रम में लोकवार्ता की पृष्ठ भूमि' शीर्षक डा० सत्येन्द्र का लेख, पृष्ठ २१।

२. बताया जाता है कि बांकीपुर निवासी लाला अंगबहादुर मानव ने सन् १८८४ में 'सुधा बूँद' नामक गीतों का कोई संग्रह तैयार किया था जो लेखक के देखने में नहीं आया। यदि उक्त संग्रह उपलब्ध हो जाय तो यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि अंग्रेजी के कार्यों के समानान्तर हिन्दी में भी लोक-साहित्य-संकलन का कार्य आरम्भ हो गया था।

त्रिपाठी निश्चय ही प्रभावित हुए बिना न रहे। सन् १९२६ के पश्चात् वे बड़ी लगन से इस क्षेत्र में घुस पड़े। परिणाम-स्वरूप 'कविता-कौमुदी' (पाँचवां भाग), 'हमारा ग्राम-साहित्य' तथा 'मारवाड़ी गीत-संग्रह' पुस्तकों का निर्माण हुआ। 'कविता-कौमुदी' की भूमिका में ग्राम-गीत-संग्रह के कार्य में आने वाले कष्टों का उल्लेख, त्रिपाठी जी ने रोचक ढंग से किया है। अपना कार्य आरम्भ करने के पूर्व 'सरस्वती' में कुछ गीतों को लेकर उन्होंने दो लेख लिखे थे। 'चाँद' मासिक का भी उस समय कम सहयोग न रहा। त्रिपाठी जी की लगन और तत्परता का अनुमान अपने मित्र को लिखे गए उनके एक पद्य-पत्र से हो सकता है। आप लिखते हैं:—

मैं विरही हूँ गीत का धर मजनूँ का भेस।
झोली डाले गीत की घूम रहा हूँ देस॥
अन्न वस्त्र लेता नहीं, नहीं विभव की चाह।
मुझे चाहिए गीत वह, जिसमें हो कुछ आह।[1]

त्रिपाठी जी की भाँति १९३० के पश्चात् श्री देवेन्द्र सत्यार्थी भी गीतों की खोज में जुट गए। त्रिपाठी जी का क्षेत्र संकुचित और तनिक वैज्ञानिक रहा, पर सत्यार्थी जी का विस्तृत, छितराया हुआ और भावना प्रधान। उन्होंने भारतीय ग्रामों में दूर-दूर तक यात्रा की, गीतों को संकलन किया। उन्हीं गीतों पर 'माडर्न रिव्यू', 'रूरल इण्डिया' और हिन्दी-उर्दू के पत्रों में क्रम से लिखते रहे। सत्यार्थी जी के कठोर परिश्रम और प्रकाशन का कुछ ऐसा प्रभाव रहा कि ३० दिसम्बर, १९४७ में लेखक से वार्तालाप करते हुए गाँधी जी ने कहा था—"पचास से अधिक भाषाओं के कोई तीन लाख गीत-संग्रह कर डालना कोई छोटा काम नहीं है। तुम्हारे बीस वर्ष इसी काम में खर्च हो गए।"[2] गाँधी जी के इस कथन से यही संकेत मिलता है कि श्री सत्यार्थी सन् १९२७ से ही गीतों को जुटाने में व्यस्त हो गए थे।

लोक साहित्य-संकलन के प्रथमोत्थान की अवधि सन् १९४२ तक समझनी चाहिए। इस बीच पत्र-पत्रिकाओं में रसीले-चटकीले लोकगीतों की, शृंगारी और विरही भावनाओं के प्रति, 'आह' और 'वाह' की प्रवृत्तियों से बोझिल लेखों का प्रकाशन होता रहा। राजस्थान और मारवाड़ अवश्य ही इस आन्दोलन के प्रति जागरूक हो गए थे। सूर्यकरण पारीक के प्रयत्नों से, राजस्थानी-गीतों का संकलन एक सुलझी हुई पद्धति से आरम्भ हो गया था। तो भी प्रमुख रूप से प्रथमोत्थान रामनरेश त्रिपाठी की 'कविता कौमुदी' और देवेन्द्र सत्यार्थी के रोमानी लेखों से प्रभावित होकर, केवल लोक-गीतों के संकलन तक ही सीमित रहा।

सन् १९४२ के पश्चात्, हिन्दी में अपने इस 'मूलधन' के प्रति एक नई जागरूकता उत्पन्न हुई, जिसके पीछे पं० बनारसीदास चतुर्वेदी की 'विकेन्द्रीकरण योजना', तथा डा० वासुदेवशरण अग्रवाल की 'जनपद कल्याणी योजना' प्रेरणादायी सिद्ध हो रही थीं। राहुल सांकृत्यायन लिखित 'मातृभाषाओं का प्रश्न' लेख[3] तथा शिवदानसिंह चौहान की प्रान्तीय भाषाओं पर निबन्ध-रूप में लिखी गई रिपोर्ट[4], अपने वैज्ञानिक दृष्टिकोण के नाते कम प्रभावशाली न रहे।

---

१. 'कविता कौमुदी' (५वां भाग) की भूमिका, पृष्ठ ३३।
२. देवेन्द्र सत्यार्थी, 'धरती गाती है', आमुख—पृष्ठ ३।
३. 'हंस', सितम्बर, १९४३।
४. देखिए शिवदानसिंह चौहान की पुस्तक, 'प्रगतिवाद'।

इस वैचारिक ऊहापोह का परिणाम यह हुआ, कि कुछ विद्वान् लोकवार्ता-साहित्य के संकलन के विषय में सोचने लगे, कि किस प्रकार काम किया जाए। कुछ ने यह भी प्रश्न उपस्थित किए कि लोक-साहित्य अथवा लोकवार्ता-साहित्य के संकलन से क्या होगा? तथा साहित्य को उससे किस प्रकार के लाभ की सम्भावना है? किन्हीं अंशों में प्रथम प्रश्न की समस्या आज भी बनी हुई है, जिसका स्पष्टीकरण हिन्दी-लेखकों की ओर से नहीं हुआ है। काम करने का प्रश्न तो साधनों के अभाव में आगे भी बना रह सकता है। राहुल सांकृत्यायन ने १९३७ में लोक-साहित्य-संकलन के लिए क्षेत्र चुने जाने के विषय में साधारण तौर पर योजना प्रस्तुत करते हुए लिखा है —

(१) भाषा ऐसी हो, जिसका क्षेत्र अपेक्षाकृत छोटा हो।
(२) जिस भाषा के (कई शताब्दियों के अन्तर से) अनेक रूप उपलब्ध हों, जिससे कि तुलनात्मक अध्ययन में पूरी मदद मिल सके।
(३) जहाँ भाषा-तत्त्वज्ञ तथा उस भाषा के मर्मज्ञ भी मिल सकें।
(४) जहाँ की स्थानीय संस्थाएँ इसके लिए तैयार हों।
(५) जहाँ उत्साही लेखक और कार्यकर्ता सुलभ हों।
(६) जहाँ काम जल्दी समाप्त किया जा सकता हो।[१]

दूसरे उत्थान में लोक-संस्कृति के अध्ययन, और लोकसाहित्य के संकलन के उद्देश्य को लेकर कुछ जनपदीय संस्थाओं का तेजी से निर्माण हुआ। ब्रज में 'ब्रजसाहित्यमंडल', गढ़वाल में 'गढ़वाली साहित्य-परिषद्', बघेलखंड में 'रघुराज साहित्य-परिषद्', बुन्देलखंड में 'लोकवार्ता साहित्य परिषद्', भोजपुर में 'भोजपुरी लोक-साहित्य परिषद्', राजस्थान में 'भारतीय लोककला-मंडल' तथा मालवा में 'मालव लोक-साहित्य परिषद्' आदि कुछ इसी प्रकार की संस्थाएँ हैं। द्वितीय उत्थान का काल अभी समाप्त नहीं कहा जा सकता। अतः प्रथमोत्थान की अपेक्षा, अनेक बहुमुखी प्रयत्नों की दृष्टि से द्वितीय उत्थान अधिक महत्त्वपूर्ण है। सुविधा के लिए उक्त काल के प्रयत्नों पर निम्न लिखित शीर्षकों के अन्तर्गत प्रकाश डाला जा सकता है —

(क) लोकगीतों का संकलन; (अ) शास्त्रीय अनुशीलन युक्त लोकगीतों के संग्रह, (आ) भावनात्मक ढंग से लोकगीतों पर लिखे लेखों के संग्रह
(ख) लोक-कथाओं का संकलन
(ग) लोकोक्तियाँ एवं कहावतों के संग्रह
(घ) आलोचना प्रधान लोक-वार्ता सम्बन्धी प्रबन्ध अथवा ग्रन्थ
(ङ) लोकवार्ता-सम्बन्धी पत्र-पत्रिकाएँ
(च) फुटकर प्रयत्न

(क) (अ) हिन्दी प्रदेश की वर्तमान बोलियों में, द्वितीयोत्थान के अर्द्ध शतक में, प्रमुख रूप से मारवाड़ी, राजस्थानी, भोजपुरी, छत्तीसगढ़ी, निमाड़ी, मैथिली, बुन्देलखंडी, मालवी, आदि बोलियों के अच्छे गीत-संग्रह प्रकाशित हुए हैं। इनसे भिन्न बोलियों के भी कुछ गीत-संग्रह हो चुके हैं, किन्तु प्रकाशकों के अभाव में उनका प्रकाशन नहीं हो पा रहा है। प्रकाशित संग्रहों की तालिका इस प्रकार होगी —

---

१. पुरातत्व निबन्धावली—'हिन्दी की स्थानीय भाषा।'

मारवाड़ी : १ 'मारवाड़ी गीत-संग्रह' (खेताराम माली), २ 'मारवाड़ी गीतमाला' (मदनलाल वैश्य), ३ 'मारवाड़ी गीत' (निहालचन्द वर्मा), ४ 'मारवाड़ी स्त्री-गीत-संग्रह' (ताराचन्द ओझा), ५ 'मारवाड़ के ग्राम-गीत' (जगदीशसिंह गेहलोत)।

राजस्थानी : १ 'राजस्थान रा दूहा' (स०-नरोत्तम स्वामी), २ 'राजस्थान के लोक-गीत' (सूर्यकरण पारिक, ठाकुर रामसिंह), ३ 'राजस्थान के ग्रामगीत' (नरोत्तम स्वामी)।

भोजपुरी : १ 'भोजपुरी ग्राम-गीत' (कृष्णदेव उपाध्याय), २ 'भोजपुरी लोकगीतों में करुण-रस' (दुर्गाशंकर प्रसादसिंह), 'भोजपुरी ग्राम-गीत' (आर्चर)।

छत्तीसगढ़ी : १ 'छत्तीसगढ़ी लोक-गीत' (श्यामचरण दुबे)।

निमाड़ी : १ 'निमाड़ी ग्राम-गीत' (रामनारायण उपाध्याय)।

मैथिली : १ 'मैथिली लोकगीत' (रामइकबालसिंह 'राकेश')।

बुन्देलखंडी : १ ईसुरी की फागें (स०कृष्णानन्द गुप्त)।

मालवी : १ 'मालवी लोक-गीत' (श्याम परमार)।

उक्त संग्रहों में प्रामाणिक गीतों के अतिरिक्त, भूमिकाओं में सम्पादकों द्वारा लिखे गए लोकगीत-सम्बन्धी विवेचन पठनीय साहित्य है। 'भोजपुरी ग्राम-गीत' की भूमिका श्री बलदेव उपाध्याय ने लगभग ४५ पृष्ठों में लिखी है, जिसमें गीतों के परिचय, भारतीय और पाश्चात्य परम्पराएँ, गाने के ढंग, प्रकार, भौगोलिक आधार आदि पर प्रकाश डालते हुए, अन्त में भोजपुरी व्याकरण तक की रूप-रेखा दी है। इस प्रकार 'राकेश' भी अपने संग्रह की भूमिका में लोकगीत की तह तक पहुँचे हैं।[1] 'राजस्थानी लोकगीत' यद्यपि छोटा संग्रह है, पर सूर्यकरण पारिक ने ३२ पृष्ठों में राजस्थानी गीतों का विवेचन-विश्लेषण अत्यन्त ही वैज्ञानिक-पद्धति से किया है। गीतों की तुलनात्मक टिप्पणियाँ और उपमानों की तालिका, उनके गीतों में गहरी पैठ के द्योतक हैं। 'ईसुरी की फागें' बुन्देलखंड के एक लोक-कवि की प्रचलित फागों का संग्रह है। कृष्णानन्द गुप्त द्वारा लोककवि के जीवन और रचनाओं पर प्रकाश डालने वाली यह हिन्दी लोकगीत-साहित्य में प्रथम पुस्तक है। उक्त संग्रहों के प्रति समग्ररूप से यही कहना उचित होगा, कि उनमें यद्यपि लोकवार्ता का वैज्ञानिक स्वरूप पूरी तरह निखरा नहीं, तथापि उनके द्वारा भावी अध्ययन की नींव अवश्य तैयार हो गई है।

(आ) भावात्मक ढंग से लिखे गए लोकगीत सम्बन्धी लेख-संग्रहों के अन्तर्गत केवल देवेन्द्र सत्यार्थी लिखित १ 'धरती गाती है' (१६४८), २ 'धीरे बहो गंगा' (१६५०), ३ 'बेला फूले आधी रात' (१६५१) और ४ 'बाजत आवे ढोल' (१६५२) पुस्तकें आती हैं। इस दिशा में सत्यार्थी अकेले हैं। यों तो, उन्हें हमने प्रथमोत्थान का व्यक्तित्व माना है, पर पूर्व संचित उनकी लोक-साहित्य-सम्बन्धी सामग्री का प्रकाशन द्वितीयोत्थान काल में हुआ है। अतः मस्तिष्क में किसी गीत की ध्वनि की भाँति उनका प्रभाव बना हुआ है। इसमें सन्देह नहीं कि अपनी भाषा और शैली से सत्यार्थी जी ने हिन्दी के एक बड़े वर्ग को लोकगीतों के प्रति आकर्षित किया है। गीतों के प्रति भावना-प्रधान पहुँच होते हुए, तुलनात्मक दृष्टिकोण का संकेत तथा लोकवार्ता

१. 'राकेश' जी ने संग्रह में कुछ भोजपुरी गीतों को मैथिली रूप देने की चेष्टा की है, जिससे गीतों के मूलरूप नष्ट हो गए हैं। अतएव वैज्ञानिक दृष्टि से यह प्रयास उचित नहीं कहा जा सकता।

सम्बन्धी प्रकाशित सामग्री का यथोचित ज्ञान, और फिर उसका काव्योभासित समन्वय का उत्कृष्ट स्वरूप हमें उनके लेखों में मिलता है। निश्चय ही उनके संग्रहों में मूलगीतों की संख्या कम है। यद्यपि गीतों के लिए उन्होंने अनेक प्रान्तों में भ्रमण किया है, पर उन्हें ऐसा प्रतीत होता है कि कवि होने के नाते उन्होंने अपने लिए केवल गीतों की मधुर पंक्तियाँ ही चुनी हैं। अपनी शैली को उन्होंने स्वतन्त्र 'निजी चर्चा की शैली'[1] कहा है। इसलिए वह साधारण पाठकों को तत्काल छू लेती है। सत्यार्थी जी का एक महत्त्वपूर्ण कार्य गीतों के अनुवाद-सम्बन्धी शैली के विषय में है। उन्होंने स्वीकार किया है—"अनुवाद भी एक कला है। सचमुच यह बड़ी जिम्मेदारी का काम है। न एक शब्द ज्यादा न एक शब्द कम; पंक्तिवार अनुवाद; यही है अन्तर्राष्ट्रीय लोक-गीत विशेषज्ञों की शैली।"

"जहाँ भी मैं गया, मैंने किसी-न-किसी दोभाषिए की सहायता से गीतों का अनुवाद साथ-साथ तैयार करने का क्रम जारी रखा, प्रत्येक शब्द का अनुवाद; प्रत्येक कड़ी का अनुवाद··· अनुवाद करते-करते मैं इसी प्रयत्न में क्रमशः अधिक-से-अधिक सफल होता चला गया।"

सत्यार्थी जी अपने कुछ लेखों में लोकगीत-संग्रह के अनुभव भी व्यक्त करते गए हैं, जिससे गीतों के उल्लेख के अतिरिक्त उनमें कहानी-तत्त्व का आभास भी मिलता जाता है।

(ख) लोक-कथाओं के संकलन का प्रयास हिन्दी में गीत-संकलन की अपेक्षा बहुत ही कम हुआ है। डॉ० वेरियर एलविन ने अपने ग्रन्थ 'फोकटेल्स ऑफ महाकोशल' की भूमिका में, प्रसिद्ध नृतत्त्ववेत्ता नार्मन ब्राउन का अनुमान व्यक्त किया है कि भारत तथा उसके पड़ोसी देशों में लगभग ३००० लोक-कथाएँ लिपिबद्ध होकर प्रकाशित हो चुकी हैं, जिनमें पंजाब, संथाल परगना और मध्यभारत से लगभग ६०० कथाएँ प्राप्त की गई हैं। डॉ० एलविन ने अपने संग्रह 'फोकटेल्स ऑफ महाकोशल' में १५० तथा अन्य रचनाओं में ५५ कथाएँ संकलित की हैं। ब्लूम फील्ड का तो कहना है कि भारतीय लोक-कथाओं में संस्कृत-साहित्य की ही गाथाएँ ध्वनित होती हैं। उन्होंने आगे बढ़कर कहा है, "जिसे हम भारतीय कथा-साहित्य कहते हैं, वह वास्तव में एशियाई कथा-साहित्य—तिब्बती, मंगोली, सुदूर भारतीय, चीनी साहित्य ही है।" अंग्रेजी विद्वानों द्वारा लोक-कथाओं पर जो कार्य हुआ है, वह कुछ अधिक होकर भी प्रामाणिक कम है। इसके कारण अनेक हैं। मुख्य कारण तो उनके दृष्टिकोण का ही है जो मनोरंजन और रोमांच तक सीमित रहा।

वास्तव में यह दिशा उन्हीं लोगों के लिए अधिक सुलभ है जो अपनी सीमाओं की बोलियों और वहाँ के व्यक्तियों की आत्मा से परिचित हों। इस दृष्टि से हिन्दी में सबसे ईमानदार प्रयास पं० शिवसहाय चतुर्वेदी का है। उन्होंने बुन्देलखण्ड की लोककथाओं का संग्रह तैयार किया, जिसमें स्थान और वातावरण के साथ लोक-कथाओं की 'स्पिरिट' नष्ट न होने दी। इसी प्रकार राजस्थानी और मालवी लोक-कथाओं के संग्रह उल्लेखनीय हैं।

सामान्यतः हिन्दी की बोलियों में अभी हिन्दी माध्यम से काम होना शेष है। वैज्ञानिक अनुशीलन की अपेक्षा सहित वैदिक संस्कृत, अपभ्रंश, पाली, आसामी, तिब्बती, चीनी आदि में फैले हुए लोक-कथाओं के सूत्रों को खोजना उतना ही महत्त्वपूर्ण है जो बिना मूल कथाओं के

१. 'धरती गाती है' आमुख—पृष्ठ ९ ।

(व्यर्थ कतरब्योंत रहित) लिपिबद्ध किए जाने से पूर्ण नहीं हो सकती।

कथाओं की श्रेणी में गीत-कथाएँ भी आती हैं, जिनका संकलन साधारणतया नहीं के बराबर है। अतः सम्बन्धित व्यक्तियों की लगन से इस दिशा में काम जब तक न होगा तब तक आंग्लभाषी-संग्रहों से उत्पन्न भ्रान्तियाँ नष्ट नहीं होने की।

(ग) लोकोक्तियों के वैज्ञानिक अध्ययन की नींव हिन्दी में किसने डाली, यह विवादास्पद प्रश्न है। फिर भी, कन्हैयालाल सहल के लेखों में सधा हुआ वैज्ञानिक दृष्टिकोण मिलता है। लोकोक्तियों के अन्तर्गत मुहावरे, अनुभव-प्रसूत सांकेतिक शब्द-योजना और पहेलियाँ आती हैं। हिन्दी-भाषियों के लिए जो मुहावरा-कोष उपलब्ध है, उसमें प्रान्तीय बोलियों की अनेक लोकोक्तियों का समावेश हुआ है। फेलन की 'डिक्शनेरी ऑफ हिन्दुस्तानी प्राव्हर्स' में भी कुछ बिहारी और भोजपुरी लोकोक्तियों के अतिरिक्त अन्य बोलियों की लोकोक्तियों को भी स्थान दिया गया है। वैसे तो हिन्दी के अधिकांश मुहावरे लोकक्तियाँ प्रान्तीय भाषाओं और बोलियों की संपत्ति हैं, पर उन्हें मूलरूप में संकलित करना अनेक कारणों से आवश्यक है। संस्कृत, पाली, अपभ्रंश आदि प्राचीन भाषाओं में आधुनिक लोकोक्तियों के अनेक प्रारम्भिक स्वरूप विद्यमान हैं। यह आवश्यक है कि जहाँ लोकोक्तियों के मूल की खोज की जाय, वहाँ प्रारम्भ से अब तक के उनके भिन्न-भिन्न रूपों का पता लगाकर, और उनका मनोवैज्ञानिक मूल्यांकन किया जाय।

हिन्दी में जनपदीय लोकोक्तियों की प्रकाशित पुस्तकें केवल चार ही हैं—१. 'मेवाड़ की कहावतें', १ भाग (लक्ष्मीलाल जोशी), २. 'मालवी कहावतें' (रतनलाल मेहता), ३. 'राजस्थानी भीलों की कहावतें', १ भाग (मेनरिया) और ४. 'राजस्थानी कहावतें' (कन्हैयालाल सहल)

अंग्रेजों ने भी इस ओर ध्यान दिया था। श्री देवेन्द्र सत्यार्थी ने 'बेला फूले आधी रात' में पंजाबी मुहावरों पर एक अच्छा निबन्ध दिया है। पहेलियों के संकलन का प्रयास सन्तोषजनक नहीं है। रामनरेश त्रिपाठी ने 'कविता कौमुदी' (५वाँ भाग) में उत्तर प्रदेश की कुछ पहेलियाँ दी हैं। वर्षा, आँधी, पानी, खेती आदि के सम्बन्ध में घाघ और भड्डरी, तथा अन्य जन-कवियों द्वारा प्रचलित की गई लोकोक्तियों का एक नया संग्रह त्रिपाठी जी ने हाल ही में तैयार किया है। पं० गणेशदत्त 'इन्द्र' ने पौष, आषाढ़, श्रावण, भादों, तथा ग्रहों आदि-सम्बन्धी एक लेखमाला सन् १६४१ में 'जयाजी प्रताप', ग्वालियर में लिखी थी, जिसमें लोकोक्तियों का एक खासा समावेश हो गया है। 'मालवी लोकोक्तियाँ' एक नया संग्रह पं० सूर्यनारायण व्यास के सम्पादकत्व में छप रहा है।

लोकोक्तियाँ और मुहावरे जब संक्रान्तिकाल से गुजरते हैं, तब उनके रूपों में परिवर्तन हो जाना असम्भव नहीं। परिस्थिति की मार से कई कहावतें, जो किसी वर्ग तक सीमित होती हैं, नष्ट हो जाती हैं। नई बातों के आ जाने से मनुष्य के स्वभाव के साथ कहावतों और लोकोक्तियों के उपकरण बदलने लगते हैं, तभी उनका महत्त्व इतिहास और काल की दृष्टि से बढ़ जाता है।

पहेलियाँ, जिन्हें संस्कृत में 'ब्रह्मोदय' कहा जाता है, अत्यन्त ही अल्प मात्रा में संकलित की गईं, यह स्पष्ट है। डॉ० वेरियर एलविन और आर्चर ने सन् १६४३ में 'मेन इन इण्डिया' में एक लेख लिखा था[1] जिसका महत्त्व उनके सुलझे हुए वैज्ञानिक दृष्टिकोण के नाते,

१. 'एन इण्डियन रिडिल बुक' अंक ११, संख्या ७, "नोट आन दी यूज आफ रिडिल्स इन इण्डिया"।

हिन्दी में किये गए प्रयत्नों की अपेक्षा आगे बढ़ा हुआ है। डॉ० सत्येन्द्र ने पहेलियों के विकास पर अपने विचार व्यक्त किए हैं—"भारतवर्ष में तो वैदिक काल से 'ब्रह्मोदय' का चलन मिलता है। 'अश्वमेध यज्ञ' में तो 'ब्रह्मोदय' अनुष्ठान का ही एक भाग था। अश्व की वास्तविक बली से पूर्व, होतृ और ब्राह्मण ब्रह्मोदय पूछते थे। इन्हें पूछने का केवल इन दो को ही अधिकार था। इस प्रकार पहेलियों का प्रयोग भारतवर्ष में ही नहीं, अन्य देशों में भी मिलता है।[1]

(घ) लोक-साहित्य-सम्बन्धी वैज्ञानिक दृष्टिकोण व्यक्त करने वाले (दिशा-दर्शक), हिन्दी में केवल पं० वासुदेवशरण अग्रवाल लिखित 'पृथिवी पुत्र' और डा० सत्येन्द्र लिखित 'ब्रज लोक-साहित्य का अध्ययन' दो ही ग्रन्थ हैं। यों राहुल सांकृत्यायन के कतिपय फुटकर लेखों में मार्ग-दर्शन की अधिकांश सामग्री मिलती है। यह दिशा ऐसी है जिसके प्रति सबसे कम ध्यान दिया गया। इसका मुख्य कारण मूल साहित्य के संकलन का अभाव है। जो काम पश्चिम में ग्रिम ने किया, वही हमारे यहाँ डा० वासुदेवशरण और डा० सत्येन्द्र ने किया है, यह मानना अत्युक्तिपूर्ण न होगा।

(ङ) जनपदीय-साहित्य के उत्थान के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहने वाली पत्रिका 'मधुकर' श्री बनारसीदास चतुर्वेदी के सम्पादकत्व में वर्षों से सचेष्ट रही। उसमें प्रायः बुन्देलखण्ड के लोक-साहित्य-सम्बन्धी सामग्री छपती रही। 'मधुकर' के माध्यम से टीकमगढ़ के आसपास के प्रान्तों का बहुत-सा लोक-साहित्य संकलित किया जा सका। श्री चतुर्वेदी अपनी सम्पादकीय टिप्पणियों और अन्य लेखों में 'अन्तर्जनपदीय परिषद्' की स्थापना का बराबर जोर देते रहे, जिससे इस दिशा में वैचारिक सूत्र मिल गया। ब्रजमंडल से 'ब्रज भारती' का प्रकाशन हुआ। प्रारम्भ में अवश्य ही वह लोकवार्ता-साहित्य के प्रति उदासीन रही पर शीघ्र ही वैचारिक आन्दोलन के प्रभाव-स्वरूप ब्रज के लोक-साहित्य को स्थान देने लगी। सन् १९४५ में श्री कृष्णानन्द गुप्त के सम्पादकत्व में, लोकवार्ता परिषद्, टीकमगढ़ द्वारा 'लोकवार्ता' एक अत्यन्त ही श्रेष्ठ त्रैमासिक पत्रिका प्रकाशित होने लगी। छः अंकों के बाद पत्रिका का प्रकाशन बन्द हो गया। किन्तु इस बीच अपने वैज्ञानिक, ठोस और सुव्यवस्थित-प्रणाली के कारण, पत्रिका अपने ढंग की महत्त्वपूर्ण वस्तु बन गई। इस पत्रिका द्वारा लोकवार्ता-सम्बन्धी कार्य करने वाली कुछ पत्रिकाएँ आगे आईं। राजस्थान से 'शोध पत्रिका' (उदयपुर), और 'राजस्थान भारती' (जयपुर) दो पत्रिकाएँ इतिहास, साहित्य और लोकवार्ता-प्रकाशन के उद्देश्य को लेकर आजकल बराबर प्रकाशित हो रही हैं। दोनों पत्रिकाएँ अपने उद्देश्यों के प्रति ईमानदार और सचेष्ट हैं।

(च) फुटकर प्रयत्नों के अन्तर्गत मासिक, साप्ताहिक और त्रैमासिकों में छपने वाले लेख हैं, जिनमें अधिकतर अभी भी 'आह' और 'वाह' की ध्वनि मिल जाती है। यद्यपि इन छुट-पल्ले प्रयत्नों में सार कम है, तथापि प्रचारात्मक दृष्टि से इस बहाने लोक-साहित्य-संकलन का आन्दोलन आगे ही बढ़ता है। अधिकांश लेख, छपित सामग्री पर ही लिखे जा रहे हैं। मासिकों और त्रैमासिकों में प्रकाशित होने वाला साहित्य अवश्य उत्तम कोटि का होता है। ऐसी पत्रिकाओं में 'नया समाज,' 'हँस,' 'सरस्वती,' 'विक्रम,' 'कल्पना,' राष्ट्रभारती, 'नागरी-प्रचारणी पत्रिका,' 'हिन्दुस्तानी एकेडेमी पत्रिका,' 'आलोचना' आदि

1. 'ब्रज लोक-साहित्य का अध्ययन'; पृष्ठ ४२०–२१।

उल्लेखनीय हैं।

आन्दोलन की गति के साथ, ज्यों-ज्यों इस युग के साहित्यिकों का ध्यान इस ओर खिंचा, त्यों-त्यों लेखकों और आलोचकों में लोक-साहित्य की महत्ता बखान करने की प्रवृत्ति बढ़ने लगी —कुछ 'फैशन' की दृष्टि से और कुछ 'सचाई' के नाते। प्रान्तीय लोक-साहित्य परिषदें भी इस स्थिति को लाने में सहायक हुईं, जिनके पीछे गणेश चौबे, ठाकुरप्रसादसिंह, अम्बिकाप्रसाद दिवाकर, देवीलाल सांभर, लावनप्रतापसिंह, बंशीधर शुक्ल, अनूप, बसन्तीलाल बम्ब, आनन्दराव दुबे, महेश व्यास, शिवसहाय चतुर्वेदी आदि कार्यकर्ताओं की शक्ति काम आ रही है।

[३] आज से २० वर्ष पूर्व अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने, बम्बई में एक प्रस्ताव द्वारा प्रान्तीय भाषाएँ और उसके साहित्य की सुरक्षा के लिए संकेत किया था। हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने समय-समय पर प्रस्तावों द्वारा इस ओर आगे बढ़ने की प्रवृत्ति प्रगट की, और नाम के लिए दो-तीन संग्रहों का प्रकाशन करके काम रोक दिया। यह परम्परा अपनी गति में तेजी नहीं पकड़ सकी। साधनों के अभाव में, प्रामाणिकता की कमी भी बहुत-कुछ बनी रही। कुछ संग्रहों को छोड़ शेष ग्रन्थ या तो किसी छोटी-मोटी संस्था द्वारा प्रकाशित हुए अथवा फिर व्यक्तिगत प्रयत्नों का परिणाम बने। अतएव निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि हमारा संकलित लोक-साहित्य कहाँ तक प्रमाणिक है। अब तक के समस्त प्रयत्न भारत-जैसे विशाल देश के लिए अत्यन्त ही मामूली हैं। निस्सन्देह व्यक्तिगत और सामूहिक श्रम का कार्य होते हुए भी इस परम्परा को आगे बढ़ाने के लिए आर्थिक संकटों का निवारण प्रथम वस्तु है।

डॉ॰ देवराज

अतीत का साहित्य : क्लासिक की परिभाषा

अतीत साहित्य को हम क्यों पढ़ते हैं ? 'लखनऊ-लेखक-संघ' में एक दिन यह चर्चा छिड़ी, पर विभिन्न हठपूर्ण सम्मतियों के कोलाहल में किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँचा जा सका। कुछ लोगों ने कहा—अतीत की संस्कृति को समझने के लिए हम तब का साहित्य पढ़ते हैं। लेकिन प्रश्न यह है कि हम अतीत की संस्कृति को ही क्यों समझना चाहते हैं ? दूसरे लोगों के अनुसार हम अतीत के इतिहास और साहित्य को इसलिए पढ़ते हैं कि आज के जीवन के लिए शिक्षा ले सकें। यहाँ भी एक प्रश्न उठ खड़ा होता है—यह शिक्षा लेने की प्रक्रिया क्या है, और शिक्षा लेने के लिए आज के शिक्षक पर्याप्त क्यों नहीं हैं ?

इसी सम्बन्ध में अतीत साहित्यकारों के जीवन-दर्शन की चर्चा भी की जाती है। कतिपय समीक्षकों ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि विश्व के 'क्लासिकल' कवि अथवा लेखक किसी-न-किसी रूप में प्रगतिशील जीवन-दर्शन के शिक्षक अथवा प्रचारक थे। कहना नहीं होगा कि इस प्रगतिशीलता की व्यापक और संकीर्ण अनेक व्याख्याएँ संभव हैं। उदाहरण के लिए डॉ॰ भगीरथ मिश्र ने रीतिकाल-सम्बन्धी अपने एक निबन्ध में कविवर बिहारीलाल तथा देव के वेदान्त-परक एवं वैराग्यवादी पद्यों को उद्धृत करके उन्हें महत्त्वपूर्ण बतलाया है। इसके विपरीत श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त ने अपनी कुछ समीक्षाओं में सूर, तुलसी आदि की जन-हित की भावना पर गौरव दिया है।

किसी भी समस्या का समाधान एक बाहरी विश्लेषण की सतह पर किया जा सकता है, और वह समाधान बहुत गहराई में घुसकर ऐसे धरातल पर खोजा और प्राप्त किया जा सकता है जहाँ जीवन की बहुत-सी दूसरी समस्याएँ एक मिलनबिन्दु पर आकर केन्द्रित होती हैं। ऊपर के प्रायः सभी दृष्टिकोणों में सचाई का अंश है, उनकी कमी यही है कि वे मानव-जीवन और मानव-संस्कृति की वैविध्यपूर्ण, व्यापक पीठिका से सुसम्बद्ध नहीं हैं।

चिन्तन के क्षेत्र में प्रायः अनेक कठिनाइयाँ इसलिए उपस्थित होती हैं कि हम चिन्तन-प्रक्रिया में पूर्णतया ईमानदार होने की कोशिश नहीं करते। युग अथवा प्रचलित रूढ़ियों के भय से हम बाह्य अथवा आन्तरिक यथार्थ को पूरा-पूरा नहीं देखते, और यदि देखते भी हैं तो उसे स्वीकार नहीं करते। फलतः हमारा तत्सम्बन्धी चिन्तन एकांगी हो जाता है—जिस एकांगिता को हम बचा सकते थे, उसे भी नहीं बचा पाते। अतएव चिन्तन की प्रगति एक प्रकार से नैतिक प्रगति भी होती है, क्योंकि वह क्रमशः हमें यथार्थ को देखने का अधिक साहस देती है।

यदि हम अपने सहज अनुभव पर विश्वास करें तो, कम-से-कम अतीत साहित्य के बारे में यह कह सकते हैं कि हम मुख्यतः उसे रस के लिए पढ़ते हैं। भले ही एक अन्वेषक पंडित 'मेघदूत' अथवा 'बिहारी सतसई' को उन युगों की संस्कृति समझने के लिए पढ़े, अथवा इस

कर्तव्य-भावना से कि उनके अध्ययन से देश की संस्कृति की रक्षा होती है, किन्तु साहित्य के अधिकांश फक्कड़ प्रेमी इन दुश्चिन्ताओं से मुक्त होते हैं। संस्कृत के अनेक ग्रन्थों को प्रस्तुत लेखक ने कभी दोबारा देखने की कोशिश भी नहीं की, जबकि कुछ नाटकों और महाकाव्यों को वह लगातार पढ़ता आया है। कारण यह नहीं कि दूसरी कोटि के ग्रन्थ भारतीय-संस्कृति का ज्यादा प्रामाणिक परिचय देते हैं—वह परिचय तो एक आनुषंगिक और गौण बात है; साफ और सच्ची बात यह है कि उसे उनमें रस मिलता है।

साहित्य की उपयोगिता को किसी 'जीवन-दर्शन' अथवा 'जन-हित' की परिधि में सीमित करके नहीं देखा जा सकता। हमारा अनुमान है 'मेघदूत' जैसी कृतियों की उपयोगिता उक्त दोनों कोटियों से भिन्न प्रकार की है। 'जीवन-दर्शन' की कसौटी न केवल कुछ कृतियों के लिए अपूर्ण है—वह विशिष्ट कलाकार के सम्पूर्ण कृतित्व को आँकने का भी अनिवार्य पैमाना नहीं है। दूसरे, 'जीवन-दर्शन' कलाकार बहुत-कुछ अपने समाज और वातावरण से लेता है; वह खास तौर से उसकी अपनी लब्धि नहीं होता।

विश्व-साहित्य में ऐसे अनेक बड़े कलाकार हुए हैं जिन्होंने कोई स्पष्ट सन्देश या 'जीवन-दर्शन' अपने समाज को नहीं दिया है। मार्क्सवादियों का विचार है कि संसार के सारे दर्शनों को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है, एक अध्यात्मवादी और दूसरे भौतिकवादी। स्थूल-रूप में यह वर्गीकरण स्वीकार किया जा सकता है। प्रश्न है—क्या हम कालिदास, शेक्सपियर जैसे लेखकों को विशुद्ध रूप में अध्यात्मवादी अथवा भौतिकवादी कह सकते हैं? कालिदास को ही लीजिये। इस कवि ने विशुद्ध ऐहिक सुख-भोग का समर्थन करने वाली पंक्तियाँ भी लिखी हैं और ऐसे पद्य भी जिनमें वैराग्य, लौकिक-सुख-निरपेक्षता आदि का महत्त्व-ख्यापन है। बसन्त ऋतु में कवि की कोकिला किसी युवती से कहती है—'अपने मान को छोड़ो भी, प्रियतम से किए हुए झगड़े को खत्म करो; गया हुआ यौवन फिर वापस नहीं आता।' उसी कालिदास ने इक्ष्वाकुवंशियों की इस प्रवृत्ति की प्रशंसा की है कि वे यौवन ढलते ही राज्य का मोह छोड़कर वनवासी हो जाते थे। आप कालिदास को भौतिकवादी कहेंगे या अध्यात्मवादी?

उक्त कवि ने एक ओर जितेन्द्रिय तपस्वियों के सुन्दर चित्र दिये हैं तो दूसरी ओर स्वच्छन्द विहार करने वाले प्रणयी प्रेमियों के। दोनों में कौन-से चित्र कालिदास के 'जीवन-दर्शन' को व्यक्त करते हैं? और यह प्रश्न कालिदास के ही नहीं, संसार के किसी भी महान् साहित्यकार के सम्बन्ध में पूछा जा सकता है। कहा जाता है कि भारतवर्ष अध्यात्म-प्रधान देश है, लेकिन वस्तु-स्थिति यह है कि शृंगार के क्षेत्र में जितनी सरस और मांसल कविता हमारे देश में लिखी गई है, वैसी शायद किसी दूसरे देश में नहीं लिखी गई। कालिदास, भारवि, माघ, अमरूक आदि ही नहीं, सूरदास एवं विद्यापति जैसे भक्त-कवि भी इसका ज्वलन्त निदर्शन हैं। शिव, विष्णु आदि देवों के प्रति निवेदित हमारा समूचा स्तोत्र-साहित्य शृंगार के खुले संकेतों से ओत-प्रोत है। और यदि यह साहित्य अध्यात्मवादी है, तो फिर भौतिकवादी साहित्य किसे कहा जायगा?

हम अपनी बात दुहराते हैं—साहित्य और कला की उपयोगिता 'जीवन-दर्शन' तक सीमित नहीं है। अतीत साहित्य के बारे में यह और भी सत्य है, क्योंकि अतीत का 'जीवन-दर्शन' आज हमें और भी कम ग्राह्य होगा। फिर भी एक अर्थ है जिसमें साहित्यकार हमें उपयोगी 'जीवन-दृष्टि' दे सकता है। किन्तु यह दृष्टि साहित्य के सामान्य प्रयोजन से विच्छिन्न नहीं होती।

इस सम्बन्ध में हम आगे चर्चा करेंगे।

तो, अतीत साहित्य को हम क्यों पढ़ते हैं? उत्तर है—बहुत-कुछ उसी कारण से जिस कारण से हम वर्तमान साहित्य को पढ़ते हैं। अतीत साहित्य को हम इसलिए पढ़ते हैं कि वह आज भी हमारे जीवन-स्पन्दन को वेगपूर्ण एवं समृद्ध बनाने की क्षमता रखता है। आज भी वह यथार्थ की अर्थवती छवियों में हमारी चेतना का प्रसार करता हुआ हमारे व्यक्तित्व को अधिक सचेत, रसमय और सृजनशील बनाता है। जिस साहित्य की यह क्षमता इतिहास के वर्तमान समय-बिन्दु तक निश्शेष नहीं हुई है, वह 'क्लासिकल' साहित्य है। इसी प्रकार अतीत के उन विचारकों की कृतियाँ, जो आज भी हमारी जिज्ञासा और कुतूहल की भावना को जाग्रत करती हैं, जो आज भी हमारे मस्तिष्क को झकझोरने की शक्ति रखती हैं, अपने-अपने विषयों की 'क्लासिक्स' कहलाती हैं। उपनिषद् और भगवद्गीता, बुद्ध, प्लेटो, अरस्तू, शंकर आदि की कृतियाँ अथवा उक्तियाँ इसी अर्थ में आज भी अर्थवती हैं। इस तथ्य को न समझकर उक्त कृतियों के 'ऐतिहासिक' महत्त्व की बात करना निरा बालकपन है।

सच यह है कि मनुष्य एक ऐतिहासिक प्राणी है; वह अपने वर्तमान को ही नहीं, अतीत को लेकर भी जीवित रहता है। वस्तुतः हमारे जीवन में अतीत की स्मृतियाँ ही अधिक महत्त्वपूर्ण हैं, वर्तमान के इन्द्रिय-संवेदन उतने महत्त्वपूर्ण नहीं। हमारे जीवन की महत्ता मुख्यतः हमारी स्मृतियों में है—हमारी राजनैतिक तथा आर्थिक क्रांतियाँ, हमारी धार्मिक-नैतिक शिक्षाएँ तथा विश्वास, हमारी सैकड़ों विचार-पद्धतियाँ ये सब मानव-जाति की बहुमूल्य स्मृतियाँ ही हैं। आज रवीन्द्र और गांधी भी हमारे लिए स्मृति बनकर रह गए हैं; वे हमारे इतिहास की चीज हैं, हमारे वर्तमान की नहीं। इन स्मृतियों को ही हम परम्परा अथवा सांस्कृतिक धरोहर कहते हैं।

इस धरोहर का वास्तविक अर्थ एवं मूल्य समझने के लिए हमें कुछ और गहराई में घुसना पड़ेगा। डार्विन का विकासवाद बतलाता है कि विभिन्न जीव-योनियों का विकास और उन्नति उन अनुकूल परिवर्तनों के इकट्ठे होने से घटित होती है जो आने वाली पीढ़ियों की शरीर-रचना में संक्रान्त हो जाते हैं। अनुकूल परिवर्तनों का संरक्षण और संक्रमण यही जीवयोनियों के विकास का रहस्य है।

लेकिन ऐसा जान पड़ता है कि जीवन के इतिहास में उस प्रकार के विकास की संभावनाएँ अब खत्म हो चुकी हैं। मनुष्य को उत्पन्न करके मानो प्रकृति की विकास-क्रिया दूसरे साधनों को लेकर भिन्न ढंग से अग्रसर होने लगी है। मानव-व्यक्तित्व में जो अनुकूल या प्रतिकूल परिवर्तन होते हैं, वे मुख्यतः शारीरिक अथवा बीजगत (Germ Plasm को प्रभावित करने वाले) नहीं होते। अब वे परिवर्तन आन्तरिक अथवा आध्यात्मिक होते हैं। हमारे बदलते हुए विचार, मनोभाव, रागात्मक संवेदनाएँ, नैतिक आदर्श आदि ही वे परिवर्तन हैं जो मानवता के स्वरूप को निर्मित और प्रभावित करते हैं। अवश्य ही इनमें कुछ परिवर्तन कम महत्त्वपूर्ण होते हैं, कुछ अधिक महत्त्वपूर्ण। दूसरे शब्दों में कहें तो मानवता की निजी गहरी दृष्टि से कुछ विचारकों के विचार तथा कुछ कलाकारों की संवेदनाएँ अधिक महत्त्वपूर्ण होती हैं, कुछ की कम। इस प्रकार के परिवर्तनों में मानव जाति जिन्हें अधिक महत्त्वपूर्ण समझती है, उन्हें रक्षित कर लेती है; शेष को भुला देती है। ये रक्षित महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक परिवर्तन ही 'क्लासिक्स' हैं। आगे आने वाली पीढ़ियाँ इन महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों को वंशानुक्रम से नहीं पातीं। ये परिवर्तन मनुष्य के

शरीर अथवा मस्तिष्क की परिवर्तित रचना के रूप में चरितार्थ नहीं होते; वे भाषा आदि प्रतीकों में बँधकर पड़े रहते हैं। मानवता का साम्प्रतिक विकास आवश्यक रूप में उसके द्वारा किये जाने वाले प्रतीकों के उपयोग पर निर्भर है। गणित-शास्त्र का शानदार इतिहास, जिस पर भौतिक-शास्त्र की सारी उन्नति आधारित है, ज्ञान की प्रतीकाधारित प्रगति का अद्भुत निदर्शन है। दूसरे क्षेत्रों में भी हमारे विचारों और भावनाओं की प्रगति दूसरे प्रकार के (मुख्यतः शब्दमय) प्रतीकों पर निर्भर करती है। इस दृष्टि से देखने पर अतीत साहित्यिक तथा विचारात्मक कृतियों का महत्त्व एक दूसरी ही रोशनी में दिखाई देने लगता है।

गणित के नवीनतम अन्वेषण, उसकी प्राचीनतम तथा सरलतम स्थापनाओं पर निर्भर करते हैं। यह नहीं हो सकता कि कोई विद्यार्थी सिर्फ नये अन्वेषणों को सीखने की इच्छा रक्खे और पहले की स्थापनाओं की अवज्ञा करे। कुछ उसी प्रकार आज का दर्शन और साहित्य भी अतीत साहित्य और दर्शन पर निर्भर है। शायद आप कहें कि गणित की मिसाल ठीक नहीं, क्योंकि कालिदास और तुलसी अथवा शंकर और रसेल में वैसा आवश्यक या अखण्ड तर्कात्मक सम्बन्ध नहीं है जैसा कि गणित की पुरानी और नई स्थापनाओं में। उत्तर में निवेदन है कि तर्कात्मक न होते हुए भी पूर्वकथित सम्बन्ध आकस्मिक या अनावश्यक नहीं हैं। इस समय का महान् दार्शनिक अथवा महाकवि वह नहीं बन सकता जो सिर्फ अपने युग को जानता है, बल्कि वह जिसका चिन्तन और संवेदना क्रमशः अतीत के तर्क-वितर्क और सौन्दर्य-बोध को आत्मसात् करके समृद्ध बन चुके हैं। बात यह है कि आज के युग की जहाँ अपनी दार्शनिक गुत्थियाँ और अपना जीवन-बोध है वहाँ प्राचीन समस्याएँ तथा जीवन-बोध भी उसका अनिवार्य अंग बन चुके हैं। प्राचीन प्रश्नों और समाधानों के आलोक में ही आज की समस्याओं का निरूपण और उनके हल का प्रयत्न किया जाता है। इसी प्रकार प्राचीन सौन्दर्य-बोध की पृष्ठभूमि में ही आज की संवेदना का ताना-बाना बुना जाता है। यह नहीं कि आज का दार्शनिक या कवि प्राचीन की उपेक्षा नहीं कर सकता, किन्तु ऐसा करके वह जिस चिन्तन-पद्धति या कला की सृष्टि करेगा, वह अनुपात-शून्य एवं विकलांग होगी, वह युग की सम्पूर्ण अर्थात् पूर्ण रूप में संस्कृत-चेतना को सन्तुष्ट नहीं कर सकेगी।

युग की सम्पूर्ण सांस्कृतिक चेतना में वे सारे तत्त्व मौजूद रहते हैं, जिनका आकलन या अनुचिन्तन अतीत की किसी भी कालावधि में स्थायी महत्त्व की वस्तु समझा गया था। आज हम प्राचीन शिक्षकों और कवियों की उक्तियों को समग्र जीवन-दर्शन अथवा समूचे सौन्दर्य-बोध के रूप में भले ही स्वीकार न करें, किन्तु उन्हें हम एकान्त मिथ्या कहकर अस्वीकार नहीं कर सकते। मानव शरीर की जिन उपयोगी क्रियाओं अथवा अंगों का, विकास की लम्बी यात्रा में समय-समय पर आविर्भाव हुआ है, वे सभी आज किसी-न-किसी रूप में हमारे साथ हैं; उनके ऐतिहासिक विकास तथा स्वतन्त्र अस्तित्व को ठीक से समझे बिना हम अपनी वर्तमान भौतिक गठन को ठीक से नहीं समझ सकते। यही बात हमारी मानसिक और आध्यात्मिक गठन पर लागू है। ज्ञान के क्षेत्र में विश्लेषण और समन्वय दोनों साथ-साथ चलते हैं। किसी तथ्य या समस्या का विश्लेषण जितना बारीक और बहुमुखी होगा, बाद में मिलने वाला समाधान या समन्वय उतना ही दृढ़ और समृद्ध होगा। मानव-चेतना का इतिहास मानो उन तत्त्वों को पृथक्कृत एवं स्वतन्त्र अवगति देता है, जो हमारे काल तक आते-आते अनिवार्य रूप में संकुल और सम्पृक्त हो चुके

हैं। इस प्रकार की जानकारी हमें उन तत्वों का अधिक सचेत एवं अधिकारपूर्ण उपयोग करने की, नये सन्दर्भों में उनकी नियोजना करने की, क्षमता प्रदान करती है। इस प्रकार अतीत की विशिष्ट जानकारी हमारी सृजन-शक्ति को दृढ़ता और प्रसार देती है।

ऐतिहासिक विकास की इस प्रक्रिया को हम एक दूसरी दृष्टि से देखें। प्रत्येक युग मानव-चेतना या व्यक्तित्व को एक सीमा तक समृद्ध करके छोड़ देता है। जिन तत्वों द्वारा उस चेतना या व्यक्तित्व का निर्माण हुआ है, उनके समस्त सम्भव संगठन या संव्यूहन उस युग के मनीषियों की रचनाओं में उपलब्ध हो जाते हैं। विभिन्न कोटियों के नायक-नायिकाओं की परिकल्पना या निर्माण में युग-विशेष के कलाकार अपने समय के सम्पूर्ण सौन्दर्य-बोध, अथवा संश्लिष्ट मनोवैज्ञानिक तथा नैतिक-सामाजिक बोध को, चरितार्थ कर देते हैं। उदाहरण के लिए शकुन्तला-दुष्यन्त, इन्दुमती-अज, कादम्बरी-चन्द्रापीड़ तथा राम-सीता के व्यक्तित्वों एवं सम्बन्धों में भारत के स्वर्ण-युग का अशेष सौन्दर्य-बोध पुंजीभूत रूप में अभिव्यक्त है। यही बात होमर, शेक्सपीयर, टॉलस्टॉय आदि के पात्र-पात्रियों के बारे में सत्य है। यहाँ पाठक सौन्दर्य-बोध शब्द की संकीर्ण आदर्शवादी व्याख्या न लें; उसके अन्तर्गत युग-विशेष का असौन्दर्य एवं अनीति का बोध भी आ जाता है। रावण का व्यक्तित्व युग के सौन्दर्य-बोध की उसी हद तक अभिव्यक्ति है जिस हद तक राम का चरित्र। इस दृष्टि से डास्ता ईव्स्की के असामान्य या विच्छिन्न व्यक्तित्व वाले पात्र भी अपने युग के सौन्दर्य-बोध के प्रतीक हैं।

हम कहना यह चाहते हैं कि मानव व्यक्तित्व या चेतना का निर्माण करने वाले ये तत्व प्रायः एक युग से दूसरे युग में सक्रान्त होते जाते हैं; और प्रत्येक आने वाला युग उनकी जटिलता में वृद्धि कर देता है। बाद के युग में पूर्व युग के तत्व रहते हैं, पर उतने स्पष्ट रूप में नहीं जैसे कि वे विगत युग में थे। विगत युग-जीवन के ये तत्व अब भी व्यक्तित्वों का निर्माण करते हैं, पर कुछ भिन्न रूप में। जिस प्रकार आज के भौतिक, सामाजिक परिवेश में कालिदास का परिवेश समावेशित है, भले ही वह उस रूप में दिखाई न देता हो, उसी प्रकार आज की मानव-चेतना में कालिदास के युग की मानव-चेतना समाई हुई है। यही कारण है कि हम आज भी 'शाकुन्तल' और 'मेघदूत' का रस ले सकते हैं। किन्तु आज यदि कालिदास स्वर्ग से उतर आए, तो वह दास्ता ईव्स्की के 'क्राइम एण्ड पनिशमेण्ट' का रस ले सकेगा, इसमें सन्देह है। कारण यह है कि उक्त उपन्यास के नायक के व्यक्तित्व को निर्मित करने वाले सभी तत्वों से कालिदास का परिचय नहीं होगा; उसे उक्त नायक एक पहेली जान पड़ेगा। इसके विपरीत 'क्राइम एण्ड पनिशमेण्ट' का रस ठीक से वही पाठक ले सकता है जिसने अतीत का काफी साहित्य पढ़ा है। इसी प्रकार जिस व्यक्ति ने यूरोपीय दर्शन का इतिहास नहीं पढ़ा है वह न रसेल को समझ सकता है, न विटगैन्स्टाइन या हैडेगर को; वह व्यक्ति, बड़ी-से-बड़ी प्रतिमा रखते हुए भी, ऐसे किसी दर्शन का निर्माण भी नहीं कर सकता जो विश्व-दर्शन अथवा यूरोपीय दर्शन के इतिहास में महत्त्वपूर्ण कड़ी बन सके। इसी प्रकार वह लेखक जो अतीत साहित्य में प्रतिष्ठित मानव-चेतना से सुपरिचित नहीं है, महत्त्वपूर्ण पात्रों अथवा साहित्य की सृष्टि नहीं कर सकता। महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक पुरुषों की भाँति साहित्य के महत्त्वपूर्ण पात्र भी वही होते हैं जो, सचेत या अचेत भाव से, मानव-चेतना के विधायक असंख्य परम्परा-प्राप्त तत्वों को समेटते या ढोते चलते हैं। इस दृष्टि से प्रेमचन्द का होरी एक साधारण नहीं; असाधारण पात्र है। वह

और उसके साथी भारतीय सौन्दर्य-बोध की अनगिनत परम्पराओं के वाहक हैं। इसी से यह सचाई अनुगत होती है कि श्रेष्ठतम साहित्य के पात्र निजी व्यक्तित्व से सम्पन्न होते हुए भी 'टाइप' होते हैं; वे सौन्दर्य-बोध अथवा रागात्मक-बोध की लम्बी, परिचित परम्पराओं का प्रतिनिधित्व करते हैं।

हमने अतीत साहित्य की व्यापक उपयोगिता पर अपना मन्तव्य प्रस्तुत किया। संक्षेप में, तथाकथित 'क्लासिकल' साहित्य जीवन के उन तत्त्वों की चेतना का वहन करता है जिनकी उपयोगिता या सार्थकता आज भी अक्षुण्ण है। 'क्लासिकल साहित्य' के संरक्षण एवं अध्ययन का अर्थ रसात्मक-संवेदना के उन रूपों का आकलन या उज्जीवन है, जो मानवता के चेतना-मूलक विकास के अंग एवं प्रतीक हैं। मानव-समाज का कोई सदस्य सिर्फ बीसवीं सदी में पैदा हो जाने से ही बुद्ध एवं कालिदास से श्लाघ्यतर व्यक्तित्व वाला मनुष्य नहीं बन जाता; उनकी तथा बाद के एवं समकालीन अनेक महापुरुषों की सांस्कृतिक-लब्धियों को आत्मसात् करके ही वह अपने व्यक्तित्व को अधिक सचेत एवं समृद्ध बना सकता है। इस दृष्टि से बीसवीं सदी के एक साधारण बुद्धि-जीवी का व्यक्तित्व अतीत के बड़े लेखक-विचारकों की तुलना में अधिक जटिल तथा चेतनावान् हो सकता है।

यहाँ एक प्रश्न उठता है—क्या कोई ऐसा अर्थ है जिसमें अतीत का साहित्यकार आज भी हमारा नियामक एवं पथ-प्रदर्शक बन सकता है? उत्तर में निवेदन है कि प्रत्येक लेखक और विचारक नई चेतना का विधायक होने के नाते हमारा शिक्षक होता है। मतलब यह कि शिक्षा केवल नैतिक ही नहीं होती। यदि शिक्षा का अर्थ नैतिक-राजनैतिक आदर्शों का प्रचार मात्र हो तो कहना होगा कि न्यूटन तथा आइन्स्टाइन मानव-जाति के शिक्षक नहीं हैं। इसके विपरीत मनोवैज्ञानिक यथार्थ अर्थात् मानव-स्वभाव की रागात्मक सम्भावनाओं के उद्घाटक होने के नाते बिहारी एवं विद्यापति हमारे वैसे ही महत्त्वपूर्ण शिक्षक हैं जैसे कि वाल्मीकि और तुलसी। यही नहीं, इस दृष्टि से हम टॉल्स्टाय और शेक्सपीयर को तुलसी से बड़ा शिक्षक भी कह सकते हैं।

किन्तु प्रश्न का एक दूसरा पक्ष भी है। समृद्ध, रसपूर्ण जीवन के लिए जहाँ कला और चिन्तन अपेक्षित हैं, वहाँ अच्छी समाज-व्यवस्था भी कम अपेक्षित नहीं। और अच्छी व्यवस्था का अर्थ है—नर-नारियों के सन्तुलित सम्बन्ध एवं व्यक्तियों का सन्तुलित, स्वस्थ जीवन। कलाकार इस प्रकार के जीवन एवं व्यवस्था की रूप-रेखा खड़ी करके जन-कल्याण का पथ प्रशस्त कर सकता है। और चूँकि मानव-जीवन के लिए उपयोगी नैतिक नियन्त्रण तथा नैतिक-रागात्मक संवेदनाएँ युग-युग में करीब-करीब वही रही हैं—उदाहरण के लिए संयम, निर्लोभता तथा त्याग की भावनाओं का प्रायः सार्वकालिक महत्त्व है—इसलिए अतीत के कलाकार आज भी श्रेष्ठ-व्यवस्था एवं चरित्र की कल्पना में हमारी मदद कर सकते हैं। प्राचीन साहित्यकारों के जीवन-दर्शन एवं सिद्धान्त—जैसे पुनर्जन्म, ईश्वरवाद आदि से सम्बद्ध मन्तव्य जहाँ पुराने पड़कर अग्राह्य हो जाते हैं, वहाँ उनकी कृतियों से मिलने वाली रसात्मक एवं नैतिक प्रेरणाएँ चिरकाल तक प्रभावपूर्ण बनी रहती हैं। यही नहीं, हमारी आस्था है कि इस प्रकार की प्रेरणाएँ लम्बे-चौड़े जीवन-दर्शन से जितनी कम सम्पृक्त रहती हैं, उतनी ही अधिक नैसर्गिक एवं स्थायी महत्त्व वाली जान पड़ती हैं, विशेषतः आगे आने वाली पीढ़ियों को। इस दृष्टि से भी हम शेक्सपीयर तथा कालिदास को तुलसी से कम महत्त्व का शिक्षक नहीं कह सकेंगे।

प्रबन्ध विभाग,

आलोचना

राजकमल प्रकाशन, १ फ़ैज़ बाज़ार दिल्ली ।

तारीख __________

प्रिय महोदय,

हम *आलोचना* के स्थायी ग्राहक बनना चाहते हैं। आपसे प्रार्थना है कि हमारा नाम व पता ग्राहकों की सूची में पत्रिका के .... अंक से दर्ज कर लीजिए। १२) रु० का वार्षिक चन्दा वी० पी० से वसूल कर लें/मनीआर्डर (चेक, ड्राफ्ट) द्वारा भेजा जा रहा है। श्री .... को भी *आलोचना* सम्बन्धी प्रचार पत्र भेजें; वह पत्रिका के ग्राहक बनना चाहेंगे।

भवदीय,

____

____

क्या

आलोचना

का यह अंक आपको अच्छा लगा ? *पत्रिका सम्बन्धी आपके विचार जानकर हमें प्रसन्नता होगी, और उन पर सम्पादकीय विभाग अवश्य ध्यान देगा।*

हिन्दी की इस श्रेष्ठ पत्रिका के अधिकाधिक प्रचार में

- इसके स्थायी ग्राहक बनकर,
- अपने परिचय के प्रत्येक पुस्तकालय को इसकी सूचना दे कर,
- जान-पहचान के हिन्दी-साहित्य के विद्यार्थियों व साहित्यिकों को इसके ग्राहक बनाकर,

सहयोग दीजिए।

रा ज क म ल प्र का श न

दिल्ली बम्बई नई दिल्ली